अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

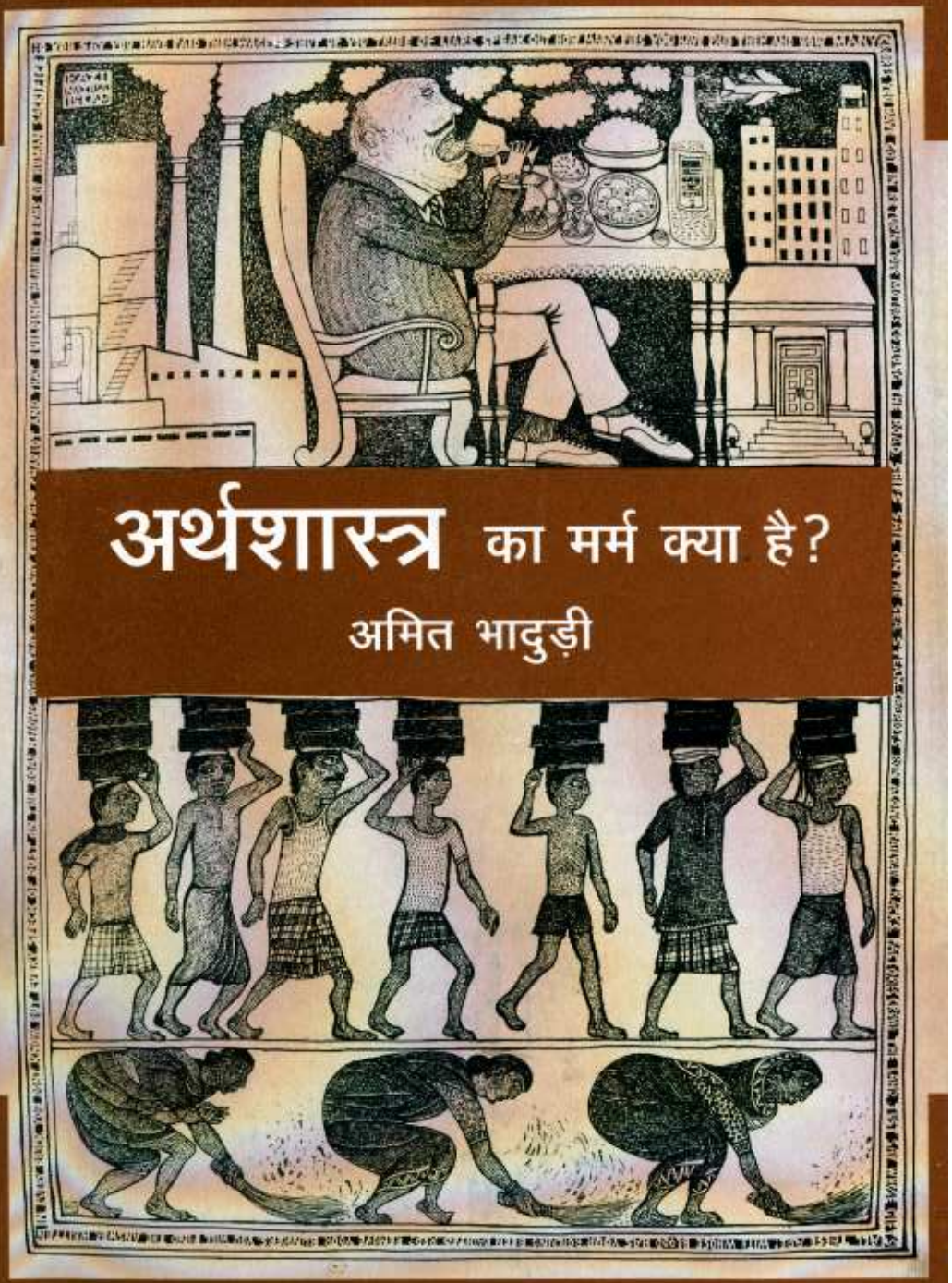

अर्थशास्त्र को प्रायः इस तरह पढ़ाया जाता है कि वह एक अकादमिक विषय बनकर रह जाता है जिसका समाज और अर्थव्यवस्था की रोज़मर्रा की समस्याओं के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं होता।

असल में अर्थशास्त्र दुनिया को समझने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। परन्तु यदि उसे अपनी इस भूमिका को निभाना है, तो उसके ऊपर पड़े रहस्य के पर्दे को हटाना होगा और उसे नए सिरे से समझना होगा।

अध्यापकों को दिए इस व्याख्यान में अमित भादुड़ी दैनिक जीवन के उदाहरणों और अनुभवों की मदद से अर्थशास्त्र के उन केन्द्रीय किन्तु उपेक्षित विचारों को उभारते हैं जो हमारे आसपास फैली आर्थिक समस्याओं को समझने के लिए ज़रूरी हैं। यह किताब अर्थशास्त्र के शिक्षकों और आम नागरिकों के लिए भी बहुत उपयोगी है।

ISBN: 978-93-81300-72-5

9 789381 300725

एकलव्य

मूल्य: ₹ 25.00

A0304H

parag SRTT और NRTT के वित्तीय सहयोग से विकसित

एकलव्य का प्रकाशन

अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

अमित भादुड़ी

अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

अमित भादुड़ी

अँग्रेज़ी से अनुवादः सुशील जोशी

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 4-6 मार्च 2010 को आयोजित 'स्कूलों में अर्थशास्त्र की शिक्षाः राष्ट्रीय सम्मेलन' में दिए गए विषय-प्रवर्तन व्याख्यान का विस्तारित रूप

एकलव्य का प्रकाशन

अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

ARTHSHASTRA KA MARM KYA HAI?

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 4-6 मार्च 2010 को आयोजित 'स्कूलों में अर्थशास्त्र की शिक्षा: राष्ट्रीय सम्मेलन' में दिए गए विषय-प्रवर्तन व्याख्यान का विस्तारित रूप

लेखक: अमित भादुड़ी
अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी
चित्र: अमोल पखाले
आवरण चित्र: कैरन हेडॉक

© अमित भादुड़ी व एकलव्य, अगस्त 2013
इस किताब की सामग्री का गैर-व्यावसायिक शैक्षणिक उद्देश्य से निशुल्क वितरण हेतु इसी या इसके समान कॉपीलेफ्ट चिह्न के तहत उपयोग किया जा सकता है। स्रोत के रूप में किताब का उल्लेख अवश्य करें तथा एकलव्य को सूचित करें। किसी भी अन्य प्रकार के उपयोग के लिए एकलव्य के मार्फत लेखक से सम्पर्क करें।

संस्करण: अगस्त 2013 / 2000 प्रतियाँ
कागज़: 70 gsm मेपलिथो और 220 gsm पेपर बोर्ड (कवर)
सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट और पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट व नवजबाई रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से विकसित
ISBN: 978-93-81300-72-5
मूल्य: ₹ 25.00

प्रकाशक: **एकलव्य**
ई-10, शंकर नगर बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (म.प्र.)
फोन: (0755) 255 0976, 267 1017
www.eklavya.in / books@eklavya.in

मुद्रक: भण्डारी ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल, फोन: 0755-246 3769

इस किताब में उपयोग किया गया 70 gsm कागज़ नवीकरणीय बागानों से प्राप्त लकड़ी से बना है।

विषयसूची

1	भूमिका	05
2	अर्थशास्त्र का मर्म	10
3	सूक्ष्म अर्थशास्त्र: चयन की समस्या	11
4	स्थूल अर्थशास्त्र: समष्टि और अंश	19
5	भारतीय अर्थशास्त्र और मात्रात्मक विधियाँ	32
	टिप्पणियाँ	39

1 भूमिका

हम क्या चाहते हैं कि अर्थशास्त्र क्या करे? मेरा खयाल है कि हम चाहते हैं कि अर्थशास्त्र इतना करे कि अर्थशास्त्र से रहस्य का आवरण हटा दे! जब मीडिया बताए कि अमुक व्यक्ति एक महान अर्थशास्त्री है और जब वह कहता है कि 6 प्रतिशत बजट घाटा देश के लिए बहुत गम्भीर मुद्दा है, तो हमारी तैयारी होनी चाहिए कि इस पर सवाल उठाएँ। यह उन बकवासों का एक उदाहरण है जिनके बारे में आपके पास यह बौद्धिक हौसला होना चाहिए कि बगैर गहन तर्क या प्रमाण के आप समझ सकें कि यह बकवास है। एक मशहूर अर्थशास्त्री ने कहा था कि अर्थशास्त्र एक महत्वपूर्ण विषय है; उसके कारण नहीं जो इसके अन्तर्गत पढ़ाया जाता है बल्कि इसलिए कि यह आपको अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा उल्लू बनाए जाने से बचाता है। लगभग हर बार जब आप टीवी चालू करते हैं और बजट पण्डितों को शेयर की कीमतों में वृद्धि के बारे में बातें करते सुनते हैं, जिसका मतलब यह बताया जाता है कि "भारत की आर्थिक सेहत कहीं बेहतर है", या "भारत की विकास दर 8 प्रतिशत है" और इस कारण "हमारी आर्थिक स्थिति अद्भुत है", या "उच्च विकास दर के चलते गरीबी की समस्या जल्दी ही सुलझ जाएगी" – तो आपको पता होना चाहिए कि झाँसा (प्रायः किसी मकसद से प्रेरित झाँसा) कहाँ छिपा है। शेयर की कीमतें रोज़ बदलती हैं, अक्सर काफी बदलती हैं, मगर वास्तविक अर्थ व्यवस्था काफी धीमी गति से बदलती है और कई बार तो उलटी दिशा में बदलती है। दो दशकों की उच्च विकास दर के बावजूद आपको अपने आसपास गरीबों की बड़ी तादाद नज़र आती है; व्यापक कुपोषण, भीख

माँगते बच्चे, हताशा में खुदकुशी करते किसान नज़र आते हैं। आप जो कुछ देखते हैं, उस पर भरोसा रखना होगा। वास्तविक जीवन के अनुभवों को ध्यान में रखना होगा। यह समझना होगा कि जो कुछ आप देख रहे हैं वही सामान्य हालात का आईना है, न कि वह जो कोई अर्थशास्त्री या सांख्यिकीविद् या पाठ्यपुस्तक कहती है। यह पहला कारण है कि क्यों हम सबके लिए, साधारण नागरिक होने के नाते भी, अर्थशास्त्र से थोड़ा सम्पर्क ज़रूरी है। इससे हम सवालिया नागरिक बनते हैं जो प्रजातंत्र को तन्दुरुस्त रखते हैं।

मैं कोशिश करता हूँ आम लोगों से बात करने की, और ऐसी किताबें लिखने की जिनको पढ़ने के लिए ज़्यादा अर्थशास्त्र की ज़रूरत नहीं होती; यहाँ तक कि यदि हम उनकी सहजबुद्धि पर यकीन करें तो बिलकुल भी अर्थशास्त्र की ज़रूरत नहीं होती। यह हमारा दायित्व है कि विभिन्न स्तरों पर अर्थशास्त्र को रहस्यों के आवरण से मुक्त करें। यह जानें कि बजट घर को सम्भालने से ज़्यादा कुछ नहीं है, और दोनों के बीच वास्तविक अन्तर यह है कि बजट में कहीं ज़्यादा लचीलापन होता है। सरकार रिज़र्व बैंक से उधार लेकर पैसा पैदा कर सकती है, जिसे घाटे की वित्त व्यवस्था कहते हैं। या सरकार टैक्स लगा सकती है। कोई गृहिणी या परिवार ऐसा नहीं कर सकता, जब तक कि उसके पास ओवरड्राफ्ट की कोई सुविधा न हो। यह एक चीज़ है जो सरकारी बजट या सार्वजनिक वित्त को घर सम्भालने से अलग बनाती है। मगर आजकल के मुख्यधारा के अर्थशास्त्रियों ने इस फर्क को लगभग समाप्त कर दिया है, क्योंकि वे चाहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो राज्य की अपनी आर्थिक भूमिका कम-से-कम होनी चाहिए। इसलिए यह कहना बड़ी समझदारी की बात हो गई है कि सरकार को बहुत ज़्यादा खर्च नहीं करना चाहिए; सरकारी खर्च की एक सीमा है। मगर जब तक लोगों का भरोसा सरकार में है, तब तक यह मुमकिन क्यों नहीं है कि अपने नागरिकों की मदद के लिए सरकार खर्च करती जाए और उधार लेकर अपने कर्ज़ का ब्याज चुकाती रहे?

मुद्दा यह नहीं है कि सरकार कितना खर्च करे, बल्कि यह है कि क्या उसका खर्च सामान्य लोगों के लिए उपयोगी है। हमें कॉमनवेल्थ खेल,

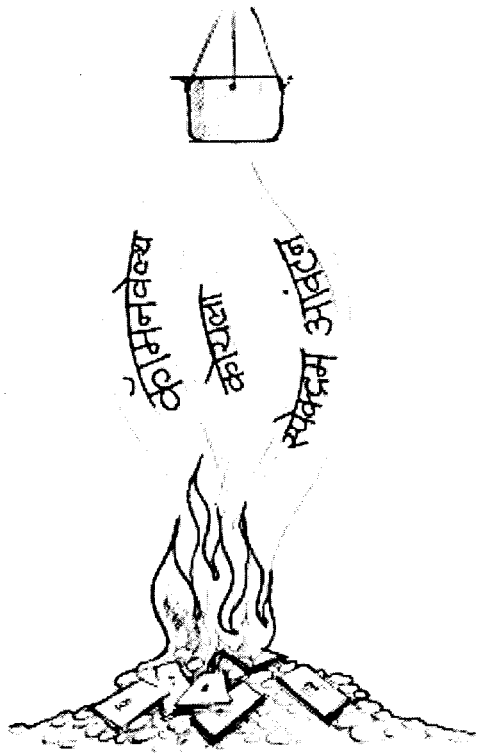

कोयला या स्पेक्ट्रम आवंटन घोटालों जैसे बरबादीपूर्ण खर्चों का विरोध करना चाहिए जो बड़े निजी उद्योगों की मदद करते हैं और सरकार का बजट कम कर देते हैं। मगर गरीब नागरिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा या शिक्षा पर खर्च में कटौती करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि यदि इसे सफलतापूर्वक किया जाए, तो इससे सरकार की साख बढ़ेगी और वह ज़्यादा कर्ज़ का निर्वाह कर पाएगी। इसकी बजाय 'वित्तीय अनुशासन' के नाम पर सार्वजनिक वित्त को घर सम्भालने जैसा बना दिया गया है। इसका मतलब यह होता जा रहा है कि भारत के रईसों की मदद के लिए गरीबों को अनुशासित करो।

अर्थशास्त्रियों के नाते हमारी कोशिश होनी चाहिए कि इस बात पर बहस और विचार-विमर्श हो कि सरकार कहाँ खर्च करे और क्यों। बात की शुरुआत पहले से यह तय करके नहीं होनी चाहिए कि वह कितना खर्च करे। फिर भी, आप टीवी चालू कीजिए और देखेंगे कि एक ऐसी गूढ़ शब्दावली में बातचीत हो रही है जिसे हम नहीं समझते; अधिकांश समय तो वे जो बातें कर रहे होते हैं वह एक ऐसे कोहरे की तरह होती हैं जो वास्तविक मुद्दों को ओझल कर देता है। आप कभी-कभार ही यह सुनेंगे कि क्यों उच्च विकास दर के बावजूद रोज़गार निर्माण इतना कम हुआ है, और क्या रोज़गार गारंटी योजनाओं का ग्राम-सभा स्तर तक विकेन्द्रीकरण करके बेहतर परिणाम मिल सकते हैं। रोज़-ब-रोज़ सैकड़ों करोड़ के घोटालों के चलते राजनैतिक दल क्यों एक स्वतंत्र केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो

के ज़रिए खुद के वित्तीय अनुशासन को लेकर हीला-हवाला करते हैं? तो पहली चीज़ है: यह ज़रूरी है कि हम खुले दिमाग वाले आत्मविश्वासी नागरिक बनें। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आपका राजनैतिक झुकाव बाईं ओर है या दाईं ओर। फर्क तो इस बात से पड़ता है कि एक खुला दिमाग हो जिसके पास रहस्य का आवरण हटाने और अपने अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में आर्थिक समस्याओं की हकीकत को देखने का विश्वास हो। मगर अनुभव विचारधारा में से छनकर आते हैं।

यह जानना ज़रूरी है कि *कहाँ अर्थशास्त्र और विचारधारा आपस में घुल-मिल जाते हैं।* समस्त सामाजिक विज्ञानों का लक्ष्य व्यक्ति को खुद की विचारधारा की बुनियाद के प्रति सचेत करना है। आपके पास ऐसी कोई चीज़ तो हो नहीं सकती जो पूरी तरह निष्पक्ष या तकनीकी हो, इसलिए आपके पास यह बौद्धिक ईमानदारी होनी चाहिए कि आप जान सकें कि कहाँ आप अपनी विचारधारा को प्रविष्ट करा रहे हैं। और इसका सबसे पहला परीक्षण है संख्याओं की समझ। मेरा आशय नफीस सांख्यिकी से या आर्थिक मापन विज्ञान (इकॉनोमेट्रिक्स) से नहीं है। दरअसल, अधिकांश समय भारतीय आँकड़े ज़्यादा उपयोगी नहीं होते, सिवाय पर्चे प्रकाशित करने और प्रोफेसर का पद पाने के लिए! हकीकत में, अर्थशास्त्र में प्रयुक्त अधिकांश गणित से आपकी कुशलता ही ज़्यादा झलकती है; इसका किसी नई सूझबूझ या बेहतर समझ में कोई योगदान नहीं होता।

मैं बौद्धिक दृष्टि से ईमानदारी बरतना चाहूँगा और कहूँगा कि गणित चीज़ों को कहीं अधिक पैनेपन से प्रस्तुत कर सकता है। यह आपको कोई नई चीज़ नहीं देगा मगर गैर-सटीक सोच के जालों को ज़रूर हटा सकता है। गणित आपको ऐसी कोई बात नहीं बताता जिसे आप शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते; गणित जो कहता है वह बात वही होती है मगर कहीं ज़्यादा सटीक रूप में। और सटीकता के चलते मान्यताओं के बीच और उनके आधार पर निकले तार्किक निष्कर्षों के बीच अन्तरों को ज़्यादा स्पष्टता से देखा जा सकता है। अलबत्ता, लफ्फाज़ी की तुलना में तार्किक सोच सब लोगों के लिए एक जैसी ही होती है। लिहाज़ा, मान्यताओं और उनकी प्रासंगिकता के बारे में बहस करना मददगार होता है।[1] मगर कुछ

मामलों में गणित आपको झाँसे देना भी सिखाता है! इस पर मैं बाद में बात करूँगा।

अनुभव, विचारधारा और संख्याओं की पेचीदा अन्तर्क्रिया के ज़रिए ही हमें अर्थशास्त्रीय तर्क को आगे बढ़ाना होता है। यह वास्तव में सहजबुद्धि निचोड़ ही है। जब यह हमारी पूर्व-कल्पित सहजबुद्धि (यानी '*अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान*') से मेल नहीं खाता तो हमें पूछना चाहिए कि क्यों। अर्थशास्त्र में प्रशिक्षण का यह अपेक्षाकृत जटिल कार्य है। शायद यही शुरुआत है एक प्रासंगिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तकार होने की।

2 अर्थशास्त्र का मर्म

अर्थशास्त्र की विधियों पर कुछ सामान्य बातें प्रस्तुत करने की बजाय मुझे वह बताने की इजाज़त दीजिए जो मेरे अनुसार अर्थशास्त्र का मर्म है। मैं दुनिया भर के अलग-अलग विश्वविद्यालयों में, अध्यापन व अनुसन्धान के विभिन्न पदों पर इस खेल में शामिल रहा हूँ और जान गया हूँ कि कैसे अलग-अलग स्थानों पर 'मर्म' को अलग-अलग तरह से देखा जाता है। मैं यहाँ आने से पहले सोचने की कोशिश कर रहा था: *अर्थशास्त्र का असली मर्म क्या है? आदर्श रूप में एक अर्थशास्त्री के नाते किसी व्यक्ति को क्या जानना चाहिए? वह कौन-सी केन्द्रीय चीज़ है जो एक बुद्धिमान व सरोकारी नागरिक को किसी सन्दर्भ-विशेष में प्रासंगिक आर्थिक सवाल प्रस्तुत करने व उठाने का आत्मविश्वास देती है?* इसके बाद हमारे पास बुनियादी पाठ्यपुस्तकों का मूल्यांकन करने के लिए कुछ कसौटियाँ होंगी।

पारम्परिक वर्गीकरण के मुताबिक अर्थशास्त्र के तीन बुनियादी क्षेत्र हैं। पहला क्षेत्र है सूक्ष्म अर्थशास्त्र (माइक्रोइकोनॉमिक्स)। दूसरा क्षेत्र है स्थूल अर्थशास्त्र (मैक्रोइकोनॉमिक्स)। और तीसरा क्षेत्र है इसे हमारे अपने सन्दर्भ यानी भारतीय अर्थ व्यवस्था में लागू करने का। इसमें भारत का उदाहरण लेकर उपलब्ध जानकारी और सिद्धान्त के आधार पर अपनी अर्थशास्त्रीय समझ को लागू करना होता है। सूक्ष्म, स्थूल और भारतीय अर्थशास्त्र और साथ में गुणात्मक व मात्रात्मक सूचनाओं के विश्लेषण की थोड़ी समझ ही पारम्परिक रूप से इस विषय – अर्थशास्त्र नामक अकादमिक विषय – की केन्द्रीय विषयवस्तु मानी जाती है। तो इसी से शुरू करते हैं।

3 सूक्ष्म अर्थशास्त्रः चयन की समस्या

सूक्ष्म अर्थशास्त्र को देखें, तो इसके दो तत्व हैं। ये काफी उपयोगी हो सकते हैं; इनका दुरुपयोग भी हो सकता है। ऐसी दो चीज़ें हैं जो आपको, उदाहरण के लिए, हाई स्कूल या कॉलेज के प्रथम वर्ष के अर्थशास्त्र में जाननी चाहिए। पहला तत्व है इस बात का थोड़ा अन्दाज़ होना कि चुनाव, व्यक्तिगत स्तर के चुनाव पर अर्थशास्त्र में कैसे विचार किया जाता है। जो चीज़ जाननी चाहिए, वह सचमुच बहुत सरल है – चुनाव के सिद्धान्त का मोटा-मोटा विचार। *चुनाव सटीक ज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि 'गैर-सटीक' ज्ञान के आधार पर किया जाता है।*

तो इसको कैसे प्रस्तुत करें? इसके प्रस्तुतीकरण का एक तरीका, उदाहरण के लिए, यह है: 2, 3, 5: जहाँ 2 और 3 में 1 का अन्तर है जबकि 3 और 5 के बीच 2 का अन्तर है। आप इस अन्तर का सही मान जानते हैं क्योंकि ये 'कार्डिनल (मात्रासूचक) संख्याएँ' हैं। अर्थात् संख्या-पैमाने पर 3 और 5 के बीच ज़्यादा फासला है बनिस्बत 2 और 3 के बीच फासले के। तो, जब आपको न सिर्फ यह पता है कि कोई चीज़ किसी अन्य चीज़ से बड़ी है बल्कि यह भी कि अन्तर कितना है – अन्तर के परिमाण का मात्रात्मक मापन – तो इसे आप *कार्डिनल* (मात्रासूचक) मापन कहते हैं। और आप कह सकते हैं कि मैं 3 की अपेक्षा 5 को तरजीह देता हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ कि मैं इसे कितनी अधिक तरजीह देता हूँ।

अलबत्ता अधिकांश मामलों में हमें यह बात एकदम सटीक रूप से पता नहीं होती। जैसे, हो सकता है कि मैं केलों से ज़्यादा सेब पसन्द करता हूँ मगर पता नहीं कितना ज़्यादा। इसे हम कहते हैं कि यह *ऑर्डिनल*

(क्रमसूचक) तरजीह है। अर्थात् आपको 'सिर्फ' यह क्रम पता है कि कौन किससे ज़्यादा है। कभी-कभी आप इनकी कल्पना 'धुँधली' संख्याओं के रूप में कर सकते हैं – ये किसी ऐसी रेखा पर स्थित हैं जहाँ दो 'बिन्दुओं' के बीच का फासला सुपरिभाषित नहीं है। सरल शब्दों में, क्रमसूचक मापन में से, जहाँ सिर्फ कम-ज़्यादा की तुलनात्मक स्थितियाँ दर्शाई जाती हैं और उसमें सटीकता नहीं होती (यानी कितना अन्तर है यह नहीं होता), पाठ्यपुस्तकों का प्रिय *इनडिफरेंस* (अनधिमान) वक्र निकलता है। अलबत्ता, छात्रों को टैंजेंसी कंडीशन्स (स्पर्शरेखिता प्रतिबन्धों) तथा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर जैसी चीज़ों की बारीकियों में जाने की ज़रूरत नहीं है। उनसे बोरियत पैदा होती है, बस। मगर यह विचार उपयोगी है कि गैर-सटीक ज्ञान से भी चयन का एक किस्म का तर्क बनता है। क्योंकि *वास्तविक जीवन के कई चुनाव गैर-सटीक ज्ञान के आधार पर किए जाते हैं*। अपने रोज़मर्रा के जीवन के बारे में सोचिए। कोई भी बीमा कम्पनी 40 वर्षीय और 60 वर्षीय लोगों का बीमा करती है। वे 60 वर्षीय लोगों से ज़्यादा प्रीमियम राशि की माँग करते हैं। क्यों? वे कहेंगे कि एक 60 वर्षीय व्यक्ति के बीमार पड़ने व मृत्यु की सम्भावना ज़्यादा होती है, इसलिए उसका प्रीमियम ज़्यादा होगा। यह कोई सटीक ज्ञान नहीं है। यह एक किस्म का गैर-

सटीक ज्ञान है: यह *सम्भाविता-आधारित* गैर-सटीक ज्ञान है। सेब बनाम केले के उदाहरण में तो सेब आपकी वरीयता सूची में ऊपर हो सकता है, मगर उसके विपरीत यह एक सम्भाविता-आधारित उदाहरण है जहाँ जोखिम सम्बन्धी गणित ऐसे मात्रासूचक मापन सम्भव बना देता है जो अवलोकनों की एक बड़ी संख्या से सम्बन्धित होते हैं।

शिक्षक विभिन्न किस्म के गैर-सटीक ज्ञान पर समय लगा सकते हैं, बजाय इसके कि वे इस बात पर ढेर सारा समय ज़ाया करें कि वरीयताएँ कैसे तय की जाती हैं और कैसे इंडिफरेंस वक्र द्वारा प्रदर्शित क्रमसूचक माप को अधिकतम मात्रात्मक मूल्य देने के लिए टैंजेंसी प्रतिबन्धों को हासिल किया जाता है। एक बार स्कूल से निकलने के बाद छात्रों को इनडिफरेंस वक्रों की ज़रूरत कभी नहीं पड़ेगी। वास्तव में आपको मात्र यह जानने की ज़रूरत है कि गैर-सटीक ज्ञान के प्रकारों और सटीक ज्ञान के बीच क्या अन्तर होता है। (गणितीय रुझान वाले लोगों के लिए यह अन्तर उसी प्रकार का है जैसा रैखीय और गैर-रैखीय समीकरणों के बीच होता है।) और इस बात को दो तरह से शामिल किया जा सकता है: एक तो वहाँ जब आप सेब और केले अथवा तानाशाही और प्रजातंत्र के बीच चुनाव की बात करते हैं, और दूसरा वहाँ जहाँ बात सम्भाविता-आधारित ज्ञान की है। पहले तरीके में आपके पास जो आधार है वह मात्र निजी पसन्द-नापसन्द का है; दूसरे मामले में आपके पास असंख्य अवलोकनों का आधार है (जैसे 40 वर्षीय और 60 वर्षीय के बीच अन्तर)।

फर्म के सिद्धान्त में, वे सारे संदिग्ध विकल्प जिनकी किसी को ज़रूरत नहीं होगी – U-आकृति के लागत ग्राफ, सीमान्त लागत और सीमान्त आमदनी के बीच बराबरी वगैरह – पढ़ाने की बजाय, मेरे खयाल में मात्र इतना जानने की ज़रूरत है कि जब कोई फर्म कोई विकल्प चुनती है, तो चुनाव कुछ हद तक इसी तरह से किया जाता है। वे एकदम सटीकता से मुनाफे को अधिकतम नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें विभिन्न किस्म की जानकारियों के साथ काम करना होता है। कुछ ज्ञान सटीक तो कुछ गैर-सटीक होता है – कम्प्यूटर की भाषा में हम इन्हें 'हार्ड' (कठोर) और 'सॉफ्ट' (नर्म) जानकारी कह सकते हैं।

किसी फर्म के बारे में सोचिए। यदि आप एक व्यापारी हैं, तो आपको अपनी फर्म के बारे में कुछ जानकारी तो होगी, जैसे आपकी लागत क्या होगी। आपका अपना लेखाकार आपको बता देगा कि दी गई परिस्थितियों में उत्पादन की लागत क्या होगी। यह अपेक्षाकृत 'हार्ड' जानकारी है। आपके पास कुछ कम सटीक ज्ञान भी होगा। आप अपना उत्पाद बेचना चाहते हैं मगर यह नहीं जानते कि कितना बेच पाएँगे, खासकर यदि यह कोई नई वस्तु है। यह 'सॉफ्ट' जानकारी है। हार्ड और सॉफ्ट जानकारी के बीच अन्तर सापेक्ष है। इससे एक बार फिर चुनाव करते समय विभिन्न *प्रकार* की जानकारी के बीच भेद करने (*अनुक्रमण*) का महत्व उजागर होता है।

मान लीजिए आप एक व्यापारी हैं, तो आप लागत के बारे में हार्ड जानकारी का उपयोग अधिक से अधिक करेंगे क्योंकि यह ज़्यादा विश्वसनीय है। आप सॉफ्ट जानकारी का भी उपयोग करेंगे मगर कोशिश करेंगे कि इस पर कम भरोसा करें। वास्तविक जीवन में हम सॉफ्ट ज्ञान, यानी सम्भाविता-आधारित सॉफ्ट ज्ञान का उपयोग करते हैं। जैसे कार खरीदने वालों के एक विशिष्ट समूह के लिए कार का नया मॉडल डिज़ाइन करते समय यह ज्ञान क़ाम आता है कि 70-80 वर्ष की उम्र वाले लोगों की अपेक्षा उम्र के चौथे दशक वाले लोगों का ज़्यादा बड़ा प्रतिशत अन्धाधुन्ध ड्राइविंग करते हुए मौत का शिकार होता है।[2] मार्केटिंग की योजनाएँ प्रायः ऐसी जानकारी के आधार पर बनाई जाती हैं। अलबत्ता, कोई भी फर्म अपनी कीमतें अक्सर लागत के आधार पर तय करती है। यदि लागत बढ़ती है तो वह कीमत बढ़ा देगी क्योंकि यह हार्ड जानकारी है। जब पेट्रोल की लागत बढ़ेगी तो वह अपनी कीमत बढ़ा देगी क्योंकि माल ढुलाई करने वाले सारे व्यापारियों के लिए यह हार्ड जानकारी है। व्यापारी के पास नए उत्पाद, जैसे कार का नया मॉडल वगैरह, के बारे में अक्सर सॉफ्ट जानकारी होती है। तो या तो वह मार्केट अनुसन्धान करके अपने उत्पाद की माँग के बारे में अपनी जानकारी को अधिक हार्ड बनाने की कोशिश करेगा या जानकारी के बगैर जोखिम उठाएगा।

फर्म के सन्दर्भ में लागत, खासकर औसत लागत की जानकारी आम तौर पर ज़्यादा विश्वसनीय (ज़्यादा हार्ड) होती है। लिहाज़ा, *फर्में लागत-आधारित कीमत निर्धारण करती हैं जिसमें लागत पर कुछ अतिरिक्त जोड़ दिया जाता है*। औसत लागत की बात करते हुए औसत पूर्ण लागत और औसत परिवर्ती लागत के बीच भेद करना उपयोगी होगा। फर्में कीमतों का निर्धारण प्रायः औसत परिवर्ती लागत के आधार पर करती हैं; यहाँ औसत परिवर्ती लागत पर अतिरिक्त मूल्य जोड़कर कीमत निर्धारण में मूल्यह्रास और मुनाफे को ध्यान में रखा जाता है। निर्माण (manufacturing) कारोबार में इनका निर्धारण अनुभव के आधार पर काफी भरोसेमन्द ढंग से किया जाता है। दूसरी ओर, आपको ऐसा व्यापारी बमुश्किल मिलेगा जिसे यह पता हो कि उसकी सीमान्त लागत और आमदनी क्या है।

वास्तव में, एक स्तर पर सूक्ष्म अर्थशास्त्र में चयन के सिद्धान्त में इतना ही पढ़ाने की ज़रूरत है, जिसे सूक्ष्म अर्थशास्त्र का कोर माना जाता है। यदि आप किसी फर्म – साबुन बनाने से लेकर कार बनाने वाली फर्म – के निदेशक को जानते हैं, तो आप उनसे पूछ सकते हैं कि वे कीमतें कैसे तय करते हैं। वे लागत को देखते हैं। वे कहेंगे कि यह मेरी इकाई लागत है – जैसे साबुन की एक टिकिया बनाने की लागत – और मैं इस पर 20 प्रतिशत सीमान्त आमदनी जोड़ता हूँ और कीमत तय कर देता हूँ। इसे कहते हैं लागत-आधारित कीमत निर्धारण। मैं यहाँ किस चीज़ का इस्तेमाल कर रहा हूँ? मैं लागत का इस्तेमाल कर रहा हूँ जो पूर्णतः हार्ड जानकारी है। मैं कह रहा हूँ कि मैं इसका उपयोग कीमत निर्धारण में करना चाहता हूँ, और तब अतिरिक्त 20 प्रतिशत सॉफ्ट जानकारी है। यदि मैं इतने पर बेच पाया तो इसे 30 प्रतिशत कर दूँगा। टाटा अपनी नैनो 1 लाख में बेचेंगे। यदि वे पर्याप्त कारें बेच पाए, तो अगले दो सालों में कीमत बढ़ाई जा सकती है। वे यह देखेंगे कि एक आज़माइशी सीमान्त आमदनी पर कितनी कारें बेच सकते हैं, अर्थात् वे माँग के बारे में सॉफ्ट जानकारी की पड़ताल कर रहे हैं। आप बाज़ार की पड़ताल इसलिए नहीं करते हैं कि 'सही' कीमत पता कर सकें या ऐसी कीमत पता कर सकें जो मुनाफे को अधिकतम करने के लिहाज़ से यथेष्ट है, बल्कि इसलिए करते हैं ताकि अपने मुनाफे के लिए 'सन्तोषजनक' कीमत (satisfysing price) पता कर सकें (यह इस तरह के कीमत निर्धारण के लिए तकनीकी शब्द है)। यदि आपको लगता है कि 20 प्रतिशत बहुत ज़्यादा है, तो आप उसे कम कर

देंगे। दरअसल यह लागत-आधारित कीमत तय करने का तरीका है। आप अपनी कीमत को हार्ड और सॉफ्ट जानकारी में विभाजित कर देते हैं।

ये यथार्थ जीवन के उदाहरण हैं। (यह एक उम्दा विचार होगा कि छात्रों से कहा जाए कि वे एक प्रोजेक्ट करके यह देखें कि क्या यह बात स्थानीय दुकानों पर लागू होती है।) वे कीमत का निर्धारण माँग और आपूर्ति के वक्र प्रतिबन्धों के आधार पर तय नहीं करते। और बाज़ार का सन्तुलन, सीमान्त आमदनी और सीमान्त लागत – वे सब बातें जो हम विस्तार में पढ़ाते हैं – और मुनाफे को अधिकतम बनाना, ये सब मिथ्या सटीकताएँ हैं। इनमें गणित का उपयोग वास्तविक दुनिया के विवरण के लिए नहीं होता। किसे पता है कि माँग का वक्र क्या होता है? सीमान्त आमदनी क्या है? साबुन की एक अतिरिक्त टिकिया की सीमान्त आमदनी क्या है? क्या आप बता सकते हैं? यदि कोई छात्र पूछेः मैडम, आप क्या पढ़ा रही हैं, क्या आप कुछ उदाहरण दे सकती हैं? तो आप एक और रेखाचित्र खींचने या थोड़ा और केल्कुलस समझाने के अलावा क्या करेंगी?

यदि आप उच्च स्तर पर पढ़ाए जाने वाले अधिकांश कोर अर्थशास्त्र को देखें, तो भारी-भरकम गणित कहाँ से आता है? यह गणित यह कहकर आता है कि आप मुनाफा अधिकतम करते हैंः किसी समय पर आप इस तरह से अधिकतम बनाते हैं, किसी अन्य समय पर आप उस तरह से अधिकतम बनाते हैं, और समय के किसी एक बिन्दु पर या समय के एक अन्तराल में अधिकतम करने की परिस्थितियाँ ये हैं जिनके आधार पर आप, बहुत हुआ तो, वास्तविक दुनिया के बारे में निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं। मगर यह सब ज़्यादातर यह साबित करने के लिए होता है कि आप ज़रूरी हुनर से लैस एक पेशेवर अर्थशास्त्री हैं। वास्तविक जीवन में यह भ्रामक हो सकता है क्योंकि अनजाने में आप मानकर चल रहे हैं कि हार्ड जानकारी सचमुच उपलब्ध है। इस तरह अधिकतम बनाने का तरीका समझाने की बजाय छात्र के लिए यह जानना ज़्यादा ज़रूरी है कि जानकारी परिशुद्ध या अपरिशुद्ध नहीं होती, हार्ड या सॉफ्ट नहीं होती, बल्कि यह तो एक रणनीतिक चर है। जैसे कम्प्यूटर या सेकंड हैंड कार के विक्रेता को खरीददार की अपेक्षा ज़्यादा जानकारी होगी कि वह क्या

बेच रहा है (असममित जानकारी)। मगर यह उतना महत्वपूर्ण उदाहरण नहीं जितना यह है कि प्रजातांत्रिक सरकारें रक्षा उपकरण खरीदते समय या कोयले अथवा लौह खदानों का आवंटन करते समय जानकारी दबाती हैं। *रणनीतिक जानकारी अर्थशास्त्र में सत्ता की धारणा को उजागर कर देती है*, जिसकी चर्चा कभी-कभार ही की जाती है। (सूचना का अधिकार और कुछ 'घोटाले' अच्छे प्रोजेक्ट हो सकते हैं जिनकी मदद से छात्र यह देख पाएँगे कि जानकारी कैसे एक रणनीतिक चर बन जाती है।)

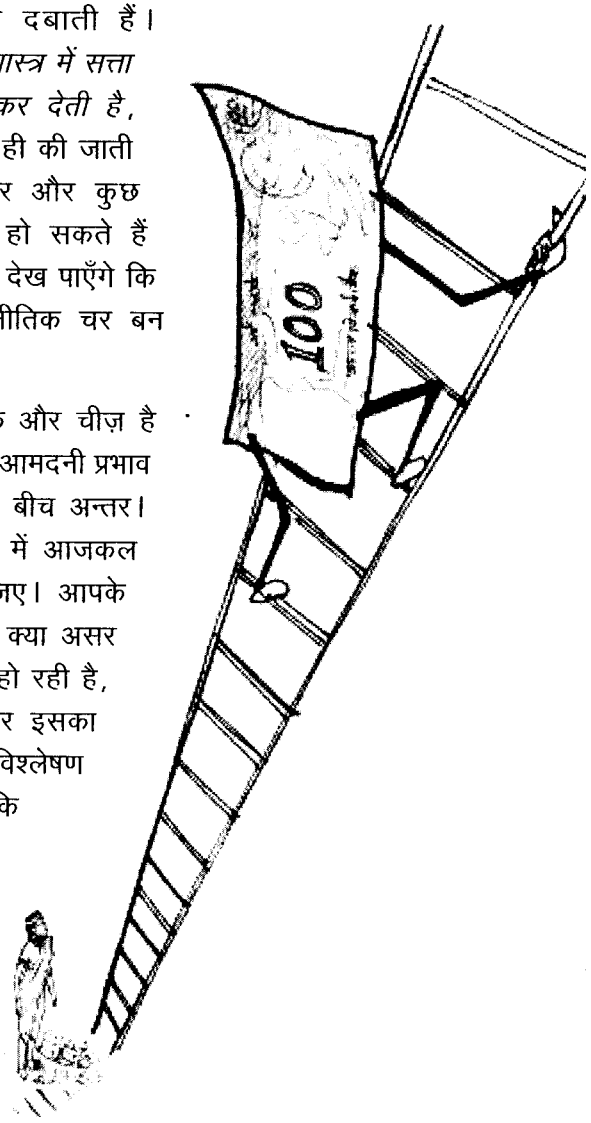

सूक्ष्म अर्थशास्त्र में एक और चीज़ है जो उपयोगी हैः तथाकथित आमदनी प्रभाव और प्रतिस्थापन प्रभाव के बीच अन्तर। उदाहरण के लिए, भारत में आजकल की मूल्य वृद्धि को लीजिए। आपके खयाल से मूल्य वृद्धि का क्या असर होता है? मूल्य वृद्धि क्यों हो रही है, वह अलग सवाल है, मगर इसका असर क्या होता है? इसके विश्लेषण का एक तरीका यह है कि हम पूछें कि जब भी मूल्य वृद्धि होती है, खासकर किसी ज़रूरी वस्तु (जैसे खाद्यान्न) की कीमतें बढ़ती हैं, तो इससे क्या होता है? इसके दो असर होते

हैंः यदि आपकी आमदनी स्थिर है (जैसे वेतन, पेंशन वगैरह), तो आपकी वास्तविक आमदनी घट जाती है। और स्वाभाविक रूप से कुछ खाद्य वस्तुओं के दाम अन्य की तुलना में ज़्यादा बढ़ते हैं और अपनी सीमित आमदनी के चलते आप सस्ते विकल्प खरीदने लगते हैं। अर्थशास्त्री इसके बारे में इस तरह सोचते हैं कि इससे आपके झोले में बदलाव आता है। उदाहरण के लिए, आप वे सब्ज़ियाँ कम खरीदेंगे जिनकी कीमतें अपेक्षाकृत ज़्यादा बढ़ी हैं। साथ ही, वे सब्ज़ियाँ जिनकी कीमतें कम बढ़ी हैं, आप उनके पक्ष में प्रतिस्थापन करेंगे (*प्रतिस्थापन प्रभाव*)। सस्ती वस्तुओं के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रतिस्थापन होता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि आपकी वास्तविक आमदनी कम हो जाती है। लिहाज़ा, आप हर चीज़ की खपत कम करेंगे (*आमदनी प्रभाव*)। इस तरह से आपको किसी एक खरीददार या उपभोक्ता पर मूल्य वृद्धि के असर को व्यवस्थित रूप से देखने में वास्तविक मदद मिलती है। जो लोग सबसे नीचे हैं, उपभोक्ताओं में से सबसे गरीब हैं, उनके पास प्रतिस्थापित करने के लिए कुछ नहीं होता क्योंकि वे तो पहले से ही सबसे सस्ती वस्तुओं का उपभोग कर रहे होते हैं। तो वे क्या करते हैं? जैसे-जैसे उनकी वास्तविक आमदनी कम होती है, वे तो बस उपभोग ही कम कर देते हैं। अलबत्ता, जूतों की बनिस्बत (उदाहरण के तौर पर) खाद्यान्न ज़्यादा ज़रूरी चीज़ है। इसका परिणाम जो होता है, उसे एंगेल का नियम कहते हैं। वे खाद्यान्न खरीदेंगे क्योंकि खाद्य पदार्थ तो रोज़ खरीदना होता है; मगर वे अपनी सेहत में कटौती करेंगे, और अपने बच्चों की शिक्षा में कटौती करेंगे, वगैरह। भोजन पर खर्च होने वाले बजट का हिस्सा बढ़ जाएगा। यह इस बात के विश्लेषण की अच्छी शुरुआत हो सकती है कि विभिन्न आमदनी समूहों – सबसे गरीब, गरीब, मध्य वर्ग और सम्पन्न वर्ग – पर खाद्यान्न की कीमतें बढ़ने के क्या असर होते हैं। (आसपास की बस्ती में विभिन्न आय समूहों द्वारा अलग-अलग वस्तुओं पर किए गए खर्च के अनुपात का बजट अध्ययन अच्छा प्रोजेक्ट हो सकता है।)

अब हम दूसरे हिस्से, यानी स्थूल अर्थशास्त्र की बात करेंगे।

4 स्थूल अर्थशास्त्रः समष्टि और अंश

स्थूल अर्थशास्त्र की बात करें, तो उसमें क्या चीज़ मूल्यवान है? आप यह कैसे बताएँगे कि क्या महत्वपूर्ण है और क्या नहीं? स्थूल अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण क्या है या जानने योग्य क्या है, इसका पता आपको स्वयं को एक अलग-थलग व्यक्ति के रूप में देखकर नहीं चलेगा। इसका ज्ञान व्यक्ति आधारित 'आत्म-अवलोकन' से प्राप्त नहीं होगा। परस्पर विरोधी हितों वाले पक्षों – जैसे विक्रेता और खरीददार के बीच रणनीतिक जानकारी का फर्क, एक गैर-पारदर्शी सरकार जिसके पास नागरिकों से छिपाने को काफी कुछ हो, जिस चीज़ का सम्बन्ध खेल सिद्धान्त (game theory) से है – जैसे कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो सूक्ष्म अर्थशास्त्र की सारी बातों का सम्बन्ध एक व्यक्ति से – मुझसे या आपसे – होता है। यह व्यक्ति तथाकथित रॉबिंसन क्रूसो नामक अमूर्त 'पद्धति-जनित व्यक्ति' है जो पड़ोसियों अथवा समाज से अलग-थलग है या बहुत कम प्रभावित होता है। एक व्यक्ति क्या खरीदता है? वह क्या चीज़ है जो वह नहीं खरीदता? अपने बजट की सीमाओं में वह निर्णय कैसे करे, वगैरह? (आप यह सवाल नहीं पूछते कि बजट की सीमाएँ कैसे पैदा होती हैं।) सूक्ष्म अर्थशास्त्र इसी की बात करता है। यानी कोई व्यापारी या गृहिणी या उपभोक्ता या उत्पादक जो बाज़ार में अकेले अलग-थलग कामकाज करे। यह जानकारी कब हमें गुमराह करती है? यह वह सवाल है जो स्थूल अर्थशास्त्र के कोर को परिभाषित करने के लिए पूछा जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो स्थूल अर्थशास्त्र का मतलब यह नहीं है कि जब एक व्यक्ति था तो वह सूक्ष्म था और यदि आप उसे बढ़ाकर दस या दस

लाख व्यक्ति कर देंगे तो उनका योग स्थूल हो जाएगा। यदि आप दस व्यक्ति ले लें तो बात दस गुना बड़ी हो जाएगी मगर वह स्थूल अर्थशास्त्र नहीं बन जाएगी! इसके बावजूद, फिलहाल जो स्थूल अर्थशास्त्र है वह ठीक यही करता है, और यह एक समस्या है। स्थूल अर्थशास्त्र के इस नज़रिए में जिस रूपक का इस्तेमाल किया जाता है वह है एक प्रतिनिधिमूलक, असम्भाव्य रूप से तार्किक और लाभ को अधिकतम बनाने को आतुर व्यक्ति का। यह नज़रिया आजकल कुछ प्रतिष्ठित पश्चिमी विश्वविद्यालयों में काफी लोकप्रिय है। यदि आप यह देखें कि वहाँ कोर स्थूल अर्थशास्त्र में क्या चल रहा है, तो पाएँगे कि उसमें ढेर सारा गणित है और वह गणित अधिकतम बनाने को उतारू ऐसे तार्किक व्यक्ति के आधार पर निकलता है जो सर्वथा अलग-थलग काम करता है और उसके पास बहुत लम्बा (वास्तव में अन्तहीन) समय है और बाज़ार से उसकी कड़ी महज़ उसके बजट और प्रचलित कीमतों के ज़रिए है। आप एक ऐसे अधिकतम बनाने को उत्सुक व्यक्ति की कल्पना करते हैं और फिर कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या है। सिद्धान्तों की यह किस्म इसी तरह काम करती है। एक प्रतिनिधिमूलक व्यक्ति में n का गुणा कर दीजिए, तो बस हो गया। 'पद्धतिगत व्यक्तिवाद' इसी तरह काम करता है, और हाल के वर्षों में स्थूल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कई नोबेल पुरस्कार दिए गए हैं क्योंकि इसका असरदार गणित एक सुगठित बाज़ार अर्थ व्यवस्था में 'राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त व्यक्तिगत चुनाव की स्वतंत्रता' को आधुनिक पूँजीवाद के एक कामकाजी मॉडल के तौर पर महिमामण्डित करता है। मगर यह एक गलत प्रस्थान बिन्दु है। उम्मीद की जानी चाहिए कि हालिया संकट हमें यह देखने को विवश करेगा कि यह एक गलत नज़रिया है।

फिर भी, ज़ाहिर है, अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है जहाँ गलत नज़रिए वाली और सहजबुद्धि के विपरीत मान्यताएँ चलती रह सकती हैं। ऐसा उनकी प्रासंगिकता के कारण नहीं बल्कि उनके विचारधारात्मक निहितार्थों के चलते और पारितोषिकों व शक्तिशाली निहित स्वार्थों के ज़रिए खुद को जिलाए रखने की उनकी ताकत की वजह से है। आप ज़रूरी बीजगणित सीखकर किसी जाने-माने विश्वविद्यालय में प्रोफेसरी पा जाएँगे, शायद नोबेल पुरस्कार भी हासिल कर लें। इसके आधार पर आपको एक बौद्धिक

सम्मान हासिल होगा ताकि आप उन चीज़ों को प्रचारित कर सकें जो शक्तिशाली निहित स्वार्थ सुनना पसन्द करते हैं। और फिर आप उसी राह पर चलते चले जाते हैं क्योंकि धीरे-धीरे वह आपका भी निहित स्वार्थ बन जाता है।

स्थूल अर्थशास्त्र को समझने की वास्तविक शुरुआत करने के लिए पहली बात यह समझने की है कि स्थूल अर्थशास्त्र *संघटन की भ्रान्ति* की छानबीन करता है: *जो चीज़ व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती*। कई जगहों पर हम यह सवाल पूछते हैं: *सम्पूर्ण क्यों उसके हिस्सों का योग नहीं होता?* और यही सवाल वास्तव में स्थूल अर्थशास्त्र की बुनियाद है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में इस सवाल का सबसे बढ़िया जवाब कीन्स (और उनसे कुछ वर्ष पहले स्वतंत्र रूप से पोलैंड के अर्थशास्त्री कालेकी) ने दिया था। निस्सन्देह वे बीसवीं सदी के सबसे प्रभावशाली अर्थशास्त्री हैं। आपको यह समझना होगा कि स्थूल अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इसी बात से है कि सम्पूर्ण उसके हिस्सों के योग से भिन्न होता है। *क्यों? क्योंकि जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती*। कीन्स इसकी व्याख्या कई तरह से करने की कोशिश करते हैं क्योंकि वे जो प्रस्तुत कर रहे थे वह एक अपेक्षाकृत सरल मगर नया विचार था जिसने अर्थशास्त्र की दिशा ही बदल दी।

कुछ उदाहरण देखते हैं।

किफायत का विरोधाभास (paradox of thrift) आप सब जानते हैं और आप में से कई लोग शायद पढ़ाते भी होंगे। एक अतिशय किस्म का उदाहरण लें तो, यदि सब लोग अपनी पूरी आमदनी की बचत करें तो ज़ाहिर है माँग बचेगी ही नहीं। तो क्या इस तरह की बचत ठीक है? यदि आप यह सवाल किसी दस साल के बच्चे से पूछ सकते हैं, तो ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ने वाले छात्र से तो पूछ ही सकते हैं!

एक और उदाहरण लीजिए: *वेतन कटौती विवाद* जो वास्तव में खेल सिद्धान्त का एक अनुप्रयोग है। मान लीजिए एक फर्म है जो वेतन में कटौती करती है और अपनी लागत कम कर लेती है। इससे फर्म को बाज़ार में अपना अंश बढ़ाने में मदद मिलती है क्योंकि कम लागत के दम

पर वह ज़्यादा प्रतिस्पर्धी हो जाती है। मगर यदि अधिकांश अन्य प्रतिस्पर्धी फर्में भी लागत कम कर लें, तो क्या इससे मदद मिलेगी? नहीं, क्योंकि तब *तुलनात्मक* स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। अब थोड़ा आगे बढ़ते हैं, वर्तमान परिवेश में आते हैं। हम वैश्वीकरण करना चाहते हैं। मान लीजिए, हम चाय उत्पादन की अपनी लागत कम कर लेते हैं। तो हम क्या हासिल करने की उम्मीद करते हैं? हम उम्मीद करते हैं कि हमारा निर्यात प्रदर्शन बेहतर होगा। यह रणनीति व्यापार के उदारीकरण का एक बड़ा हिस्सा जो है। हम निर्यात बढ़ाने की और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ज़्यादा प्रतिस्पर्धी बनने की उम्मीद करते हैं। यह सरकार की मंशा है। मान लीजिए. हमारे सारे पड़ोसी भी ऐसा ही करते हैं। कम से कम चाय या कपड़ों के बारे में तो वे ऐसा नियमित रूप से करते ही रहते हैं। क्या यह वेतन कटौती जैसी ही स्थिति नहीं है? तो एकतरफा लागत कटौती या प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ.डी.आई.) में रियायतें आपको कहाँ छोड़ती हैं? आम तौर पर यह 'नीचे की ओर एक दौड़' होती है जिसमें तुलनात्मक स्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं।

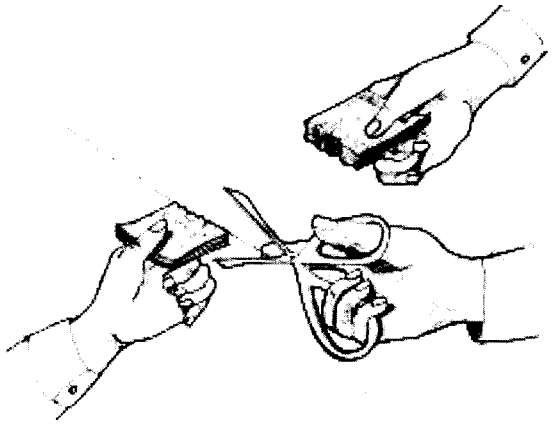

एक और उदाहरण देखिए: आप प्रलोभन (incentives) देकर उद्योग को आकर्षित करना चाहते हैं। तो गुजरात में जनाब मोदी उद्योगों को प्रलोभन देते हैं। पश्चिम बंगाल में सी.पी.एम. के मुख्यमंत्री भट्टाचार्य महाशय भी ऐसा ही करते हैं और उड़ीसा के नवीन पटनायक भी। इस प्रक्रिया में होता क्या है? सब लोग नीचे की ओर दौड़ की होड़ के खेल में शामिल हैं, और फायदा किसे होता है? उद्योगपतियों को। मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ। आप निजी उद्योग को प्राकृतिक संसाधनों – ज़मीन, खनिज, जंगल, पहाड़, पानी और तटरेखा – के मामले में रियायतें देते हैं। यह भी नीचे की

ओर एक दौड़ है जिसमें निजी उद्योगों का फायदा होता है। ये सारे उदाहरण वेतन कटौती विवाद के समान हैं, बचत और किफायत के विरोधाभास के समान हैं। ये सब इस बात के उदाहरण हैं कि जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है, वह ज़रूरी नहीं कि समाज के लिए भी सत्य हो। और व्यक्तिगत निर्णयों के स्थूल परिणामों को समझने के लिए तर्क का यह तरीका अनिवार्य है।

एक अन्तिम उदाहरण। आजकल लगभग पूरे कॉर्पोरेट विश्व में यह बहुत आम है और जाना-माना है। हरेक कॉर्पोरेट मैनेजर, हरेक सी.ई.ओ., सिर्फ भारत में ही नहीं, जर्मनी, इंग्लैंड, अमरीका, कहीं भी कहता है कि कॉर्पोरेशन को ज़्यादा कार्यक्षम होना चाहिए, ज़्यादा 'दुबला-पतला और भूखा' होना चाहिए। यानी कम लोगों को ज़्यादा उत्पादन करना चाहिए। मसलन, आँकड़े बताते हैं कि टाटा ने हाल में स्टील उत्पादन में अपनी श्रम-शक्ति को आधा कर दिया है और फिर भी वे बेहतर टेक्नॉलॉजी की मदद से पाँच गुना ज़्यादा उत्पादन कर रहे हैं। मान लीजिए सब लोग इस तरह से रोज़गार में कटौती कर देते हैं, जिसे मैनेजमेंट की भाषा में 'डाउन-साइज़िंग' कहते हैं (जिसका मतलब होता है कि श्रमिकों की संख्या में कटौती करना और उत्पादन का वही स्तर बनाए रखना या बढ़ा देना)। यह भी मान लेते हैं कि सब लोग वेतन में आनुपातिक वृद्धि किए बगैर श्रमिक दल में कटौती कर पाते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि क्या होगा? आपको वही असर देखने को मिलेगा जो किफायत के विरोधाभास में दिखा था। इन चीज़ों को खरीदेगा कौन? हो सकता है कि स्टील जैसे किसी खास क्षेत्र में यह उतना स्पष्ट न हो, मगर यदि हम कई सारे उद्योगों को एक साथ रखकर देखेंगे तो उसी तरह की समस्या पैदा हो जाएगी।

यही कारण है कि कीन्सनुमा और गैर-कीन्सनुमा (तथाकथित नव-क्लासिकल) स्थूल अर्थशास्त्र के बीच एक बुनियादी अन्तर है। अन्तर चन्द समीकरणों में नहीं है। यह महज़ इतना कहता है कि यदि आप बाज़ार के लिए उत्पादन कर रहे हैं (मार्क्स कहेंगे कि आप माल का उत्पादन कर रहे हैं, अर्थात् सिर्फ स्व-उपभोग के लिए नहीं बल्कि एक गैर-वैयक्तिक बाज़ार के लिए उत्पादन कर रहे हैं), तो आपको पता होना चाहिए कि बाज़ार इसे

खरीदेगा, और यदि आप चाहते हैं कि बाज़ार इसे खरीदे तो आपको पता होना चाहिए कि क्या इसकी माँग है। अलबत्ता, माँग लोगों की पसन्द-नापसन्द से नहीं बल्कि क्रय क्षमता से तय होती है। यदि आप सबके वेतन में कटौती कर देते हैं, तो आप समेकित माँग की समस्या का सामना करेंगे। कीन्स कई अन्य अर्थशास्त्रियों (जिन्हें अल्प-उपभोगवादी कहते हैं) से अलग हैं क्योंकि उन्होंने कहा था कि यदि आप वेतन कटौती करते हैं, तो अन्य तरीके हैं जिनकी मदद से आप समेकित क्रय क्षमता बनाए रख सकते हैं: किसी बन्द अर्थ व्यवस्था में माँग में इज़ाफा करने के लिए आप निवेश – सार्वजनिक या अन्य निवेश – बढ़ा सकते हैं।

तो छात्रों को यह बुनियादी बात समझनी चाहिए: *स्थूल अर्थ व्यवस्था में माँग एक समस्या हो सकती है और माँग की इस समस्या को आप व्यक्ति को देखकर नहीं समझ पाएँगे*। और अब सैद्धान्तिक सूझबूझ आती है। चूँकि व्यक्तियों की आमदनी प्रायः स्थिर होती है, इसलिए हम जानते हैं कि किसी कीमत पर वे कितनी माँग पैदा कर सकते हैं। यदि मैं खुद अपने बारे में या अपने में से किसी के भी बारे में सोचूँ, तो हमारी आमदनी स्थिर है और माँग का नीचे सरकता ग्राफ समझ में आता है। मगर जब हम समूची अर्थ व्यवस्था के बारे में सोचते हैं, तो समेकित माँग कहाँ से पैदा होती है? यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान था: *माँग खर्च से पैदा होती है*।

यदि मैं कहूँ कि खर्च ही वह चीज़ है जो आमदनी को जन्म देती है, तो मैं इसे सही कैसे साबित करूँगा क्योंकि यह अकेले व्यक्ति के सहजबोध के तो खिलाफ जाता है? यह 'आवर्धित प्रभाव' (multiplier) का विचार है। यह स्थूल अर्थशास्त्र का सम्भवतः सबसे शक्तिशाली विचार है। आप यह अवधारणा अलग-अलग स्तर की बीजगणितीय नफासत के साथ सिखा सकते हैं: कंवर्जेंट (अभिसारी) ज्यामितीय श्रृंखला, मैट्रिक्स (आव्यूह) बीजगणित, वगैरह। अलबत्ता, आप इसे सरलतम तरीके से भी सिखा सकते हैं, जो सहजबुद्धि के साथ मेल खाए।

विचार मूलतः यह है कि मान लीजिए सरकार राष्ट्रीय राजमार्ग बनाने पर एक रुपया या 10 लाख रुपए अतिरिक्त खर्च करने का निर्णय करती

है। तो मुझे यह पैसा आम तौर पर एक श्रमिक के रूप में नहीं बल्कि एक ठेकेदार के रूप में मिलता है। अब मैं यह पैसा अन्य लोगों पर, जैसे निर्माण मज़दूरों पर खर्च करता हूँ। मज़दूर कुछ पैसा तो प्रवासी मज़दूर के रूप में घर ले जाने के लिए बचाकर रखते हैं और बाकी अन्य लोगों पर, जैसे किराने वगैरह पर खर्च कर देते हैं। यानी पैसा हाथ बदलता है। यदि आप यह मानें कि हर व्यक्ति थोड़ी बचत करता है, मतलब यदि सरकार 1 रुपया खर्च करती है, और अगला व्यक्ति 0.8 रुपया खर्च करता है, और अगला और भी कम खर्च करता है, मान लीजिए वह अपनी आमदनी का 80 प्रतिशत यानी (0.8)(0.8)=(0.64) खर्च करता है, और अगला और भी कम खर्च करता है...यह क्रिया इस लेक्चर रूम में चलती जाती है और जब तक आखिरी व्यक्ति का नम्बर आता है, वह खर्च की उस मूल इकाई का एक नगण्य अंश खर्च करता है। यह कंवर्जेंट श्रृंखला की अवधारणा है। आप इसे सूत्र की मदद से पढ़ा सकते हैं। या यदि आप चाहें तो सूत्र को छोड़ सकते हैं और इस बात पर ज़ोर दे सकते हैं कि यह श्रृंखला अन्ततः कंवर्ज करेगी बशर्ते कि इसमें गिरावट आती रहे क्योंकि हर चक्र में बचत की वजह से खर्च में थोड़ा लीकेज होता है। मगर इससे पता चलता है कि असर में आवर्धन होगा। आवर्धित असर देखने के लिए हमें पूरी श्रृंखला को जोड़ना होगा – $1+0.8+(0.8)^2+...$। सरकार शुरुआती असर पैदा करने के लिए खर्च करती है। आप इसका अन्दाज़ महज़ सहजबुद्धि के आधार पर कदापि न लगा पाते और अर्थशास्त्र के ज्ञान के बगैर कोई बैंकर इसे अपने अनुभव से नहीं जान पाएगा। एक आम राजनीतिज्ञ इसे नहीं समझेगा। यह अर्थशास्त्र द्वारा प्रशिक्षित सहजबोध का एक उदाहरण है। तो जब सरकार अपने बजट में कटौती करती है, तो वह सिर्फ इतने-इतने डॉलर की कटौती नहीं कर रही है, जैसा कि आप टीवी पर सुनते हैं। इस कटौती के उपरोक्त आवर्धित असर होंगे।

संघटन की भ्रान्ति, यानी जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है वह समाज के लिए सत्य नहीं होती, से दो बातें निकलती हैं। पहले तो ये उदाहरण निकलते हैं, जैसे वेतन कटौती, किफायत का विरोधाभास वगैरह। और फिर इनके आधार पर आप आवर्धित असर तक पहुँचते हैं – अर्थात मेरे ऊपर खर्च किया गया एक रुपया समय के साथ अन्तहीन घटती श्रृंखला

के ज़रिए वास्तव में पाँच रुपए (उपरोक्त उदाहरण में) के बराबर हो जाता है। और तब आप देख सकते हैं कि यह एक रुपए से कहीं ज़्यादा साबित होता है। इसका आवर्धित असर होता है क्योंकि एक व्यक्ति का खर्च दूसरे की आमदनी बन जाता है। यह एक ऐसी बात है जिसे 'पद्धतिगत व्यक्तिवाद' पर आधारित सिद्धान्त के अन्तर्गत पकड़ पाना असम्भव है। आवर्धन असर कितना होगा, यह लीकेज पर निर्भर करता है, जो बचत की सीमान्त प्रवृत्ति का विलोम है।

बतौर शिक्षक हममें यह प्रवृत्ति होती है कि ये सूत्र परोसकर परिशुद्धता पर ज़ोर दें। यह सही है कि सूत्र हमारे विचारों को पैना बनाने के लिए ज़रूरी हैं, मगर इन सूत्रों के पीछे जो विचार हैं वे पहले आते हैं और सूत्रों से ज़्यादा महत्व रखते हैं। मैं कहूँगा कि स्कूल में छात्रों का परिचय विचारों से कराया जाना चाहिए, यह दबाव नहीं होना चाहिए कि वे सूत्र रट लें। उपरोक्त उदाहरण में सीमान्त बचत की प्रवृत्ति एकरूप 0.2 है। इसमें अनन्त ज्यामितीय श्रृंखला (1/0.2)= 5 पर कंवर्ज हो जाती है। मगर जो बात समझना ज़्यादा महत्वपूर्ण है, वह यह है कि हर चक्र में खर्च की वजह से वास्तविक आमदनी पैदा होती है। ऐसा उत्पादन व रोज़गार की वजह से होता है; जैसा कि उपरोक्त उदाहरण में बताया गया है। यह तब तक सम्भव है जब तक अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता मौजूद है – बेरोज़गार श्रमिक और अतिरिक्त क्षमता। वास्तव में सही मायने में पूर्ण रोज़गार या पूर्ण क्षमता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। उदाहरण के लिए, मज़दूर ओवरटाइम काम कर सकते हैं, और मशीनों का उपयोग एक से अधिक पालियों में किया जा सकता है, ताकि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ माँग में जो वृद्धि होगी उसके साथ मुनाफा और मज़दूरी भी बढ़े। इस सन्दर्भ में अनन्त श्रृंखला का योग करके कुल प्रभाव की गणना एक सन्निकटन होगा, एक मायने में यह एक सीमासूचक मूल्य होगा जबकि वास्तविक मूल्य कम होगा; इसका मतलब यह है कि यदि आप माँग में निवेश के आवर्धित असर का आकलन करना चाहते हैं, तो वास्तविक परिस्थिति में इसकी गणना कहीं अधिक पेचीदा तरीकों से करनी होगी। अलबत्ता, यह यकीनन सही है कि हम छात्रों को जो केन्द्रीय विचार समझाना चाहेंगे वह यह है कि *हर अतिरिक्त रुपया खर्च करने पर माँग पर उसका आवर्धित असर होता है*।

यह बात एक व्यक्ति के लिए सही नहीं है, जिसका खर्च उसकी आमदनी से निर्धारित होता है, न कि खर्च से उसकी आमदनी निर्धारित होती है। तो व्यक्ति और समाज के बीच साम्य की अनुपस्थिति के साथ हम बात को विराम देते हैं। स्थूल अर्थशास्त्र अध्यापन की यह सबसे महत्वपूर्ण बात है।[3]

स्थूल अर्थशास्त्र में एक और बात है। इसका सम्बन्ध इस बात से है कि धन (money) क्या होता है। धन क्या है? एक तरह से यह अर्थशास्त्र की सबसे मुश्किल चीज़ है। बहरहाल, यदि आप इसके मर्म को देखें, तो इसका सम्बन्ध मात्रा सिद्धान्त (quantity theory) से नहीं है (यह MV=PT नहीं है, मेहरबानी करके वह सब भूल जाइए)। हमें तो बस दो बातें कहने की ज़रूरत है। पहली है: धन की बुनियादी भूमिका क्या है? मैं यह घड़ी बेचना चाहता हूँ और मान लीजिए आप कहते हैं कि आप इसे 200 रुपए में खरीदेंगे। तो कीमत हुई 200 रुपए। आप कहेंगे: ठीक है, ये रहे 200 रुपए, घड़ी मुझे दे दीजिए। तब मैं यह नहीं कह सकता कि मैं दो सौ रुपए कागज़ के नोट के रूप में स्वीकार नहीं करूँगा (हाँ, मैं कीमत बदल सकता हूँ)। मैं यह भी नहीं कह सकता कि घड़ी के बदले मैं कागज़ी नोट की बजाय आपका कोई आभूषण लूँगा। मैं कानूनी तौर पर यह नहीं कह सकता। मैंने एक कीमत बताई है और हम सबको एक सामान्य, स्वीकार्य विनिमय वस्तु के रूप में कीमत बतानी होगी। यह धन की पहली भूमिका है: एक सामान्य विनिमय वस्तु उपलब्ध कराना। अलबत्ता, यदि मैं 200 रुपए में बेचना चाहता हूँ और आप मुझे 4 डॉलर (लगभग 200 रुपए) देते

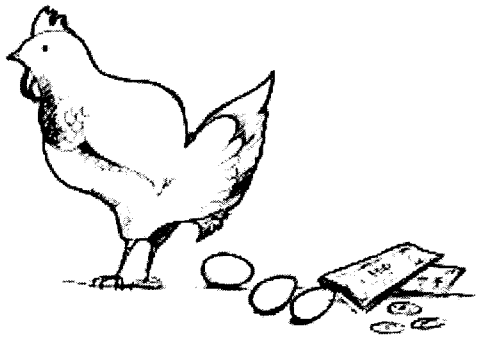

हैं, तो मैं इन्कार कर सकता हूँ। रुपया (भारत में) एक कानूनी दस्तावेज़ (legal tender) है। यदि आप एक नागरिक हैं और भारत के निवासी हैं, तो आपको देश में सभी लेन-देन के लिए रुपए को एक कानूनी दस्तावेज़ के रूप में स्वीकार करना होगा। मैं कोई भी अन्य मुद्रा अस्वीकार कर सकता हूँ। हो सकता है कि मैं डॉलर स्वीकार न करूँ। मैं शायद यूरो स्वीकार न करूँ। मैं सोना भी अस्वीकार कर सकता हूँ। मगर कानूनी तौर पर मैं रुपया स्वीकार करने को बाध्य हूँ। *कानूनी दस्तावेज़* होने का यही अर्थ है। कानूनी तौर पर मैं इसे स्वीकार करने को बाध्य हूँ। और यह एक ऐसी चीज़ है जिसका निर्माण सरकार रिज़र्व बैंक से उधार लेकर, घाटे की वित्त व्यवस्था के तहत कर सकती है। इसका अर्थ क्या है? रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया नोट छापता है; इसके बदले में सरकार रिज़र्व बैंक को एक प्रॉमिसरी नोट के ज़रिए बताती है कि वह 1,00,000 रुपए की कर्ज़दार है और रिज़र्व बैंक उसे मुद्रा के नोट सौंप देता है। एक बार धन सरकार के हाथ में आ जाने पर, सरकार इसे खर्च कर सकती है और हम हरेक लेन-देन में इसे स्वीकार करने को बाध्य हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि सरकार की क्रय क्षमता असीमित है।

अब ज़रा इन दोनों बातों को जोड़कर देखिए। सरकार के पास धन निर्मित करने की असीमित क्षमता है। और यदि सरकार पैसा खर्च करती है, तो इससे एक आवर्धन प्रक्रिया शुरू होती है, जिसकी बात हमने ऊपर की थी।

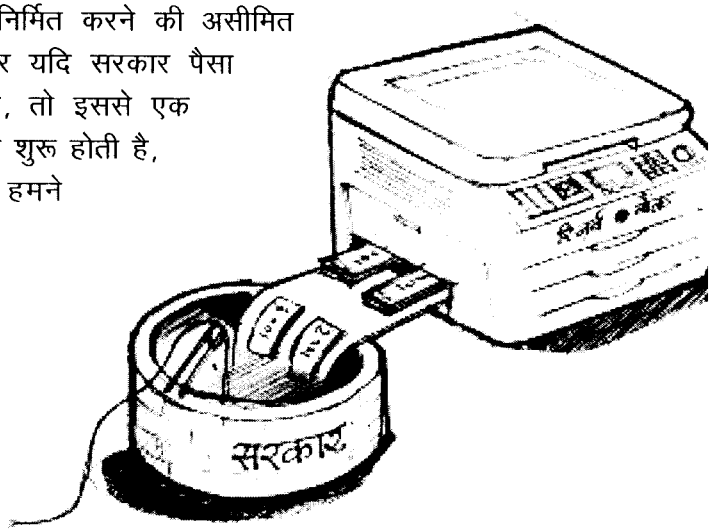

हर बार जब सरकार 100 रुपए खर्च करती है, तो वह चक्कर लगाता है, और आवर्धन प्रक्रिया के ज़रिए – बचत की प्रवृत्ति के हिसाब से – वह (मसलन) 300 रुपए की माँग के बराबर हो जाता है। तो घाटे का बजट माँग बढ़ाने का पारम्परिक तरीका है। बढ़ी हुई माँग से रोज़गार बढ़ता है क्योंकि बाज़ार में विस्तार होता है। यानी आप धन का सम्बन्ध घाटे की वित्त व्यवस्था से जोड़ सकते हैं। स्थूल अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक स्तर पर इससे ज़्यादा किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

अब तक मैंने धन की बात लेन-देन के एक माध्यम और एक कानूनी दस्तावेज़ के रूप में की। लेन-देन का माध्यम पर्याप्त नहीं होता, परन्तु *लेन-देन का माध्यम एक ऐसी चीज़ होती है जिसे देश का हर व्यक्ति स्वीकार करने को कानूनी तौर पर बाध्य है*।

धन की एक और भूमिका होती है।[4] वह दूसरी भूमिका यह है कि *धन मूल्य का एक भण्डार है*। इसका मतलब है कि चावल और गेहूँ के समान धन को भी भावी उपभोग के लिए भण्डारित किया जा सकता है। मगर चावल और गेहूँ के विपरीत इसका भण्डारण एक अनिश्चित व अनिर्दिष्ट अवधि के लिए किया जा सकता है।

आज मेरे पास 200 रुपए हैं और मैं तय कर सकता हूँ कि इसमें से 100 या 150 रुपए खर्च करूँगा और शेष खर्च न करके 'भविष्य' के लिए बचाऊँगा। इसका क्या अर्थ है? आम तौर पर मैं या तो इसे मुद्रा के रूप में रखता हूँ या कुछ कागज़ी सम्पत्ति खरीद लेता हूँ जो मुझे कुछ ब्याज देगी। यदि मैं दूसरा विकल्प अपनाता हूँ, तो मैं क्या कर रहा हूँ? मैं इस धन को भविष्य में कभी खर्च करूँगा। यह मेरे लिए मूल्य का एक भण्डार है। यह तो हम सब समझते हैं। और इसीलिए *धन का मात्रा सिद्धान्त* गलत है। आप जानते ही होंगे कि मशहूर ब्रिटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने कहा था – और यह आज भी प्रचलित है – कि यदि आप धन की मात्रा दुगनी कर दें तो कीमतें दुगनी हो जाएँगी; इसी को हम धन के मात्रा सिद्धान्त के रूप में जानते हैं।

अब, इस बात के दो कारण हैं कि क्यों यह ज़रूरी नहीं है कि कीमतें दुगनी हों। पहला कारण है कि लोग अपने हाथ में आने वाले धन में से कुछ

को अपने पास ही रोक लेंगे। समूची राशि खर्च नहीं होगी। पूरे दो सौ रुपए क्रय शक्ति में शामिल नहीं होंगे; इसका एक अंश ही क्रय शक्ति में शामिल होगा। और दूसरा कारण यह है कि यदि कोई इसे खर्च करेगा, तो इसका आवर्धक प्रभाव होगा। परिणामस्वरूप माँग में वृद्धि होगी। और माँग के अभाव के दौर में क्या होगा? लोग ज़्यादा उत्पादन करने लगेंगे। पहले आप उत्पादन नहीं कर रहे थे क्योंकि पर्याप्त माँग नहीं थी। अब माँग बढ़ गई है, तो व्यापार उत्पादन बढ़ाएगा और ज़रूरी नहीं कि कीमतें बढ़ें क्योंकि उनके पास अतिरिक्त उत्पादन क्षमता है जिसका वे उपयोग करना चाहते हैं। *धन ने उत्पादन में वृद्धि कर दी है। और जब ऐसा होने की उम्मीद हो, तो ज़रूरी नहीं कि घाटे की वित्त व्यवस्था कीमतों में वृद्धि करे*। (यह बात कुछ मामलों में सही होगी, कुछ में नहीं। भारत में आज यदि सरकार ज़्यादा खर्च करेगी, तो यह बात किस हद तक सही होगी? मुझे लगता है कि कपड़ा जैसे कुछ क्षेत्रों में इससे उत्पादन बढ़ेगा। एक समय था जब हम सब रोज़गार गारंटी की बातें करते थे। तब सरकार खर्च कर सकती थी, और मेरा खयाल है कि इस खर्च का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्य वृद्धि किए बगैर उत्पादन बढ़ाने में किया जा सकता था क्योंकि भण्डार गृहों में अनाज सड़ रहा था। आज हालात ठीक वैसे नहीं हैं।)

अर्थशास्त्र की बाकी चीज़ों के समान यह भी एक ऐसी चीज़ है जो उस समय पर या सन्दर्भ पर निर्भर करती है जब आप इसे कहते हैं। यदि आप ईमानदार हैं, तो यहीं आपकी राजनीति प्रवेश करती है। नीतियों के परिणाम हमेशा एक समान नहीं होते। राष्ट्रीयकरण या घाटे की वित्त व्यवस्था हमेशा अच्छे नहीं होते; राष्ट्रीयकरण या घाटे की वित्त व्यवस्था हमेशा बुरे भी नहीं होते। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-सा उद्योग, किस समय पर, यानी यह सन्दर्भ पर निर्भर करता है। यही आपको छात्रों को बार-बार सिखाना चाहिए। अच्छे नागरिक, जो अपने अर्थशास्त्र का कारगर उपयोग कर सकें, बनने के लिए यह एक बात है जिसे याद रखना होगाः कि *प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत अर्थशास्त्र हर बार एक-से परिणाम नहीं देता*। रासायनिक तत्वों के विपरीत आर्थिक नीतियाँ हर समय एक ही तरह से संयोग नहीं करतीं (वैसे रसायन भी तापमान और दबाव की अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग ढंग से क्रिया करते

हैं)। इसलिए कोई बात जो एक समय पर सही है, वह किसी और समय पर, किसी और सन्दर्भ में सही नहीं होती। और यह कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण बात है कि 'कब' – किन परिस्थितियों में – यह सही है। इस कारण से आर्थिक अनुभव और प्रमाण निर्णायक महत्व रखते हैं।

एक बार फिर दोहरा दूँ। दो बातें हैं जो मेरे खयाल में आपको छात्रों को पढ़ाने की ज़रूरत है। पहली है संघटन की भ्रान्ति। इसी वजह से ज़रूरी है कि आप स्थूल अर्थशास्त्र को सूक्ष्म अर्थशास्त्र से भिन्न एक विषय के रूप में जानें। दूसरी है कि धन एक निहायत विशेष सामाजिक उपकरण है जिसके ज़रिए चीज़ों को एक साथ लाया जाता है क्योंकि कानूनी रूप से सब इसे स्वीकार करने को बाध्य हैं। जब मैं अधिक खर्च करने का निर्णय करता हूँ, तो यह भविष्य से भी जुड़ता है। आपने ध्यान दिया होगा कि इसका सम्बन्ध माँग की समस्या से भी है। क्यों? यदि हर व्यक्ति बचत करे और पैसा रोककर रखे, तो यह अर्थ व्यवस्था के लिए अच्छा नहीं होगा क्योंकि यह क्रय शक्ति को रोकने जैसा है। कोई भी चीज़ जिसे मुद्रा के रूप में रखा जाता है और उस अवधि में खर्च नहीं किया जाता, वह क्रय शक्ति को रोकने के बराबर है। और यदि उस अवधि में माँग का अभाव है, तो यह एक समस्या बन जाती है। संक्षेप में कहें तो मुद्रा एक दुधारी तलवार है। इससे लेन-देन में सुविधा होती है क्योंकि सब लोग इसके माध्यम से लेन-देन करने को बाध्य हैं; यह *हर क्षण* लेन-देन में अवरोध भी बनती है क्योंकि इसे भविष्य में कभी खर्च करने के उद्देश्य से भण्डारित मूल्य के रूप में अलग भी रखा जा सकता है।

5 भारतीय अर्थशास्त्र और मात्रात्मक विधियाँ

स्कूल और कॉलेज की जो पाठ्यपुस्तकें मैंने देखी हैं, उनमें प्रायः ढेर सारी जानकारी होती है। दरअसल, उनमें कभी-कभी ऐसी जानकारी होती है जो एक पेशेवर अर्थशास्त्री के रूप में मुझे पता नहीं होती। मगर आप छात्रों को महज़ कच्ची जानकारी देना तो नहीं चाहते। आप उन्हें क्या देना चाहते हैं? पहला, हम उन्हें एक मोटा-मोटा ऐतिहासिक नज़ारा देना चाहते हैं: स्वतंत्रता के वक्त भारतीय अर्थ व्यवस्था क्या थी और आज क्या है। यह विभिन्न आयामों में किया जाता है: हमारी आमदनी या हमारा सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) कैसे बढ़ा है? अर्थ व्यवस्था का क्षेत्रवार या व्यवसाय-वार संघंटन कैसे बदला है? खेती, उद्योग या सेवाओं का कितना अंश है? बस, और कुछ नहीं। और फिर, आज क्या स्थिति है? इतना तो सारी किताबें करती हैं और मुझे यकीन है कि सारे स्कूल/कॉलेज करते हैं। मगर जी.डी.पी., उसमें होने वाले बदलाव वगैरह सम्बन्धी सारे आँकड़े आपको क्यों चाहिए? क्यों चाहिए यह सब? आपको यह चाहिए क्योंकि हम यह भी जानना चाहते हैं कि *यह आमदनी लोगों के लिए क्या करती है*। अर्थात् यह विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न आय समूहों में, विभिन्न इलाकों के बीच कैसे बँटी है। यह गरीबी के सवाल से जुड़ा है। आप इस बात पर गौर कीजिए कि सर्वोच्च 10-20 प्रतिशत को क्या हो रहा है और सबसे निचले 20 प्रतिशत को क्या हो रहा है। आँकड़े उपलब्ध हैं और आप देख सकते हैं कि क्या हो रहा है। फिर भी, स्कूली पाठ्यपुस्तकें इस बात को पर्याप्त नहीं उभारतीं, खास तौर से यह बात नहीं उभारतीं कि समय के साथ जी.डी.पी. या आमदनी का पैटर्न कैसे बदला है।

एक उदाहरण के तौर पर, हम सब जानते हैं कि पिछले 20 वर्षों में भारत में 8 प्रतिशत की दर से विकास हुआ है। शेष दुनिया पिछले 20 वर्षों में 3 प्रतिशत की दर से बढ़ी है। यानी भारत के विकास की रफ्तार प्रभावशाली रही है। अब आप गरीबी के आँकड़े देखिए, यानी उन लोगों के आँकड़े जो पोषण के मानक से नीचे हैं। आपको कुछ चौंकाने वाली बात देखने को मिलेगी और इससे स्पष्ट हो जाएगा कि मैं क्या कहने की कोशिश कर रहा हूँ। 1980 में भारत में दुनिया के गरीबों में से एक-चौथाई या उससे कम रहते थे, शायद दुनिया के गरीबों में लगभग 20-25 प्रतिशत। यानी 1980 में दुनिया के सबसे निर्धन लोगों में से 20-25 प्रतिशत भारत में थे। तब से भारत का विकास दुनिया के औसत की तुलना में दुगनी रफ्तार से हुआ है। गरीबी को क्या हुआ? आज दुनिया के गरीबों में भारत का हिस्सा 40 प्रतिशत के करीब है! इसका मतलब है कि शेष दुनिया, उप-सहारा अफ्रीका समेत, में भारत की अपेक्षा गरीबी में ज़्यादा तेज़ी से कमी हुई जबकि उनका विकास कहीं धीमा रहा है। इस तथ्य की व्याख्या उत्पादन वृद्धि को गैर-बराबरी के सवाल से जोड़ने का एक तरीका हो सकता है। शेष दुनिया ने गरीबी में ज़्यादा तेज़ी से कमी की और उनका विकास धीमा रहा है! छात्रों को इसके बारे में सोचने को कहा जाना चाहिए। क्या आपको यह बात कभी टीवी पर सुनने को मिलती है? क्या आप हमारे प्रधानमंत्री को यह बात कहते सुनते हैं? क्या आपने कभी अपने वित्तमंत्री को इस पर चिन्तित होते देखा है? ऐसे सवालों की हत्या चुप्पी साधकर की जाती है, जानबूझकर या अनजाने में। भारतीय अर्थ व्यवस्था के अच्छे शिक्षण का मतलब होगा ऐसे संवालों को उठाना और उनके जवाबों पर विचार करना। यदि आप कहते हैं कि उच्च विकास के चलते गरीबी कम हो गई है (ऊपर-से-नीचे रिसाव के ज़रिए), तो आपको इस सन्दर्भ में इसकी चर्चा के लिए तैयार होना चाहिए।

यह ज़रूरी नहीं है कि छात्रों को एकदम सही-सही संख्याएँ मालूम हों – वास्तव में ऐसे आँकड़े हैं भी नहीं क्योंकि ये परिभाषाओं पर निर्भर हैं और परिभाषाएँ बदलती रहती हैं। यह बात खास तौर से स्थूल आर्थिक योगों और उनके मापन को लेकर सही है।

जैसा कि मैंने सूक्ष्म व स्थूल अर्थशास्त्र की चर्चा के दौरान कहा था, भारतीय अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में भी विचारों को मज़बूत मात्रात्मक मापों का आधार दिया जाना चाहिए और इसमें मोटे-मोटे आँकड़े दिए जाने चाहिए। उपरोक्त उदाहरण, *जी.डी.पी. में तेज़ वृद्धि और साथ में गरीबी का धीमा उन्मूलन*, आँकड़ों के गुणात्मक उपयोग का एक उदाहरण है। गरीबी वगैरह के बारीक मापों में घुसने का मतलब प्रायः यह होता है कि मुख्य सवाल से ध्यान हट जाता है। गरीबी कैसे बढ़ती है या नहीं बढ़ती है, यह काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि रोज़गार और जीविका की स्थिति किस तरह बदल रही है। तो जानने की अगली चीज़ है व्यावसायिक संरचना और उसमें हो रहे बदलाव, और कि व्यावसायिक संरचना को क्या हुआ है।

उच्च विकास के दौर में हमारा रिकॉर्ड घटिया रहा है। भारत ने 8 प्रतिशत की दर से विकास किया और नियमित रोज़गार 1 प्रतिशत की दर से बढ़ा। इससे पहले की अवधि में भारत का विकास 4 प्रतिशत था और रोज़गार में वृद्धि 2 प्रतिशत थी। यानी रोज़गार में वृद्धि धीमी हुई है। हमें इसके क्यों व कैसे में जाने की ज़रूरत नहीं है, मगर इस रुझान को जानना ज़रूरी है क्योंकि तुलनात्मक गरीबी के मामले में यह सबसे बड़े कारकों में से एक है। यही स्थिति उत्पादन के आँकड़े की भी है। और उन लोगों की भी है जो यह उत्पादन करते हैं। *आप अधिकाधिक उत्पादन करते हैं और ठीक-ठाक रूप से नियुक्त लोगों की संख्या में कम से कम वृद्धि होती है*। यह कॉर्पोरेट वृद्धि के तर्क का एक हिस्सा है। जो तीसरी बात हमें जाननी चाहिए वह यह है कि भारत अत्यन्त समृद्ध देश क्यों है। संयुक्त राज्य के बाद दूसरे नम्बर पर भारत ही है! पता नहीं आप यह बात जानते हैं या नहीं। संयुक्त राज्य के बाद भारत में ही बहु-अरबपतियों की संख्या सबसे ज़्यादा है। (ताइवान और सिंगापुर के कारण चीन के आँकड़े अनिश्चित हैं।) आज यह संख्या 50 को पार कर चुकी है। सिर्फ संयुक्त

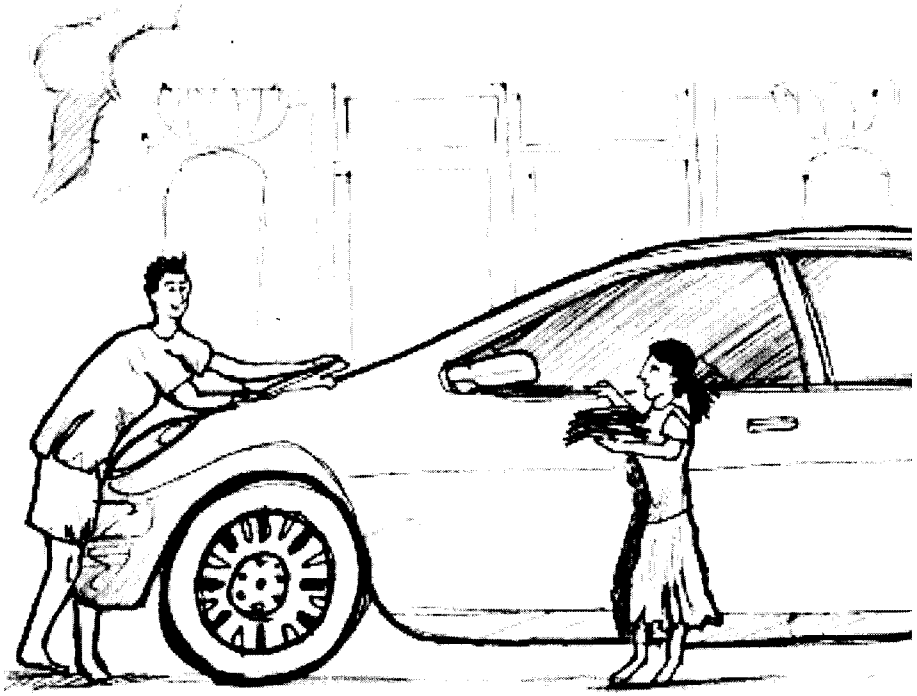

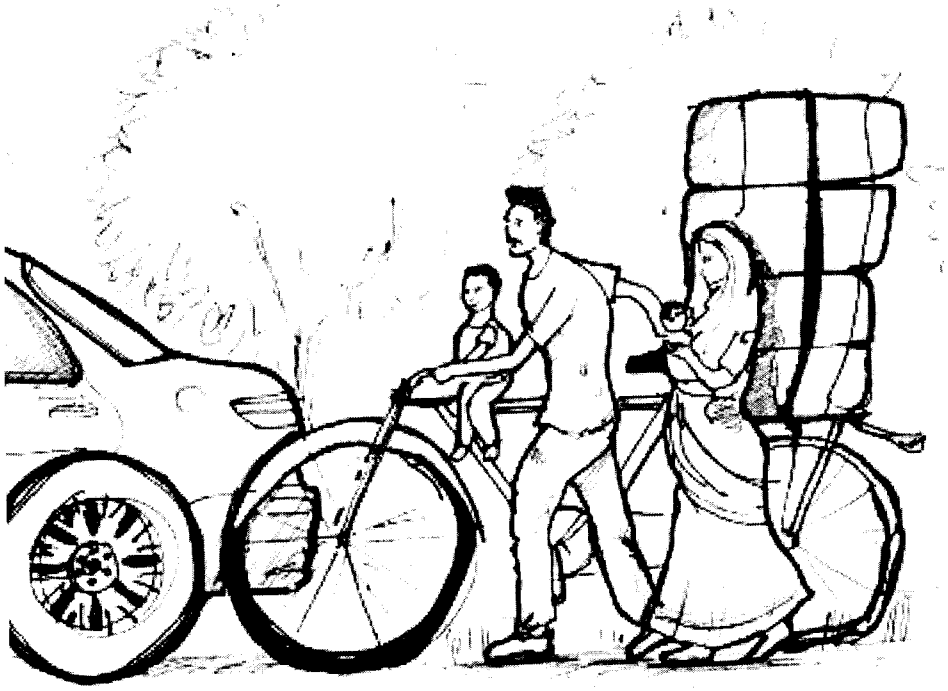

राज्य में ही इतने बहु-अरबपति हैं। अब मैं आपको कुछ और तथ्य बताता हूँ – क्या आप बेल्लारी, कर्नाटक, के रेड्डी बन्धुओं को जानते हैं? क्या आपको पता है कि बेल्लारी में सबसे बड़ी संख्या में निजी हवाई जहाज़ हैं? अब छात्रों को जो पता होना चाहिए वह है: *एक ओर आमदनी में अत्यन्त तेज़ वृद्धि, वहीं दूसरी ओर घोर गरीबी जो कहीं धीमी रफ्तार से कम हो रही है*। हम अरबपति पैदा कर रहे हैं, और गरीब भी। मेरे खयाल में छात्रों को यह सवाल विचार करने को दिया जाना चाहिए ताकि वे एक के बाद एक होने वाले घोटाले का महत्व समझ सकें और देख सकें कि इनसे अरबपतियों का निर्माण होता है। (यह एक अच्छा प्रोजेक्ट हो सकता है कि भारत के डॉलर अरबपतियों और उनकी सम्पत्ति के ज्ञात स्रोतों की पहचान की जाए।)

और वास्तव में अधिकांश समस्या तो यही है। हमारी राजनीति की, हमारे राजनैतिक दलों की अधिकांश समस्या। एक अन्तिम आँकड़ा। आज हमारी संसद में 300 से ज़्यादा सदस्य शब्दशः करोड़पति हैं। यह उनके द्वारा की गई सम्पत्ति की आधिकारिक घोषणा पर आधारित है। यदि आप अनाधिकृत सम्पत्ति को देखें, तो मुझे पता नहीं कितने इस सूची में से बाहर रह जाएँगे! आज आप कई करोड़ खर्च किए बगैर चुनाव नहीं लड़ सकते। किसी ने मुझे बताया था कि लोक सभा चुनाव के लिए औसत आँकड़ा 8 करोड़ है। तो नागरिकों के नाते हममें से अधिकांश लोग राजनीति से बाहर हैं क्योंकि पैसे ने हमें चुनावी राजनीति से खदेड़ दिया है! जिन लोगों को आप स्कूल में पढ़ा रहे हैं, वे यकीनन इस प्रजातंत्र का भविष्य देखने को जीवित रहेंगे। मेरा खयाल है कि उन्हें इन मुद्दों के प्रति संवेदी बनाया जाना चाहिए और भारतीय अर्थ व्यवस्था के अध्यापन का वास्तविक महत्व यही है। तब शायद वे यह सोचने लगेंगे कि प्रजातंत्र के इस रूप में कितना दम है। यदि नागरिक जानकारी से लैस हैं तो यह किसी भी प्रजातांत्रिक प्रशासन के लिए अच्छा होगा (जानकारी एक रणनीतिक चर है और सरकारें इसका उपयोग करती हैं)।

मात्रात्मक विधियों में दो चीज़ें हैं जिनकी हमें सांख्यिकी और गणित के लिहाज़ से ज़रूरत है। शुरुआत बीजगणित से करता हूँ। सूक्ष्म अर्थशास्त्र

में अधिकांश चीज़ों की व्याख्या थोड़ी-सी कोऑर्डिनेट (निर्देशांक) ज्यामिति के ज़रिए अपेक्षाकृत आसानी से की जा सकती है, और थोड़े उच्चतर स्तर पर सीमान्त स्थितियों की व्याख्या के लिए थोड़े-से केल्कुलस की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, जब आप एक इनडिफरेंस वक्र खींचकर कहते हैं कि यह क्रमसूचक चयन का प्रस्तुतीकरण है, तो वहाँ आप केल्कुलस/ज्यामिति का उपयोग करके टैंजेंसी स्थिति बता सकते हैं, बजाय इसे एक इतिहास के रूप में बयान करने के। स्कूल स्तर पर छात्रों को इससे ज़्यादा गणित की ज़रूरत नहीं पड़ेगी – थोड़ी-सी कोऑर्डिनेट ज्यामिति और थोड़ा-सा एक/दो चर आधारित केल्कुलस। दूसरी चीज़ जिसकी हमें ज़रूरत है वह है सांख्यिकी। मुझे पता नहीं कि आप रिग्रेशन (समाश्रयण) पढ़ाते हैं या नहीं। मेरे खयाल में यह एक चीज़ है जो एकदम बुनियादी है और पढ़ाई जानी चाहिए। मतलब, केन्द्रीय रुझान, यानी मध्यमान, बहुसम्मत मान, और बहुलक (mean, median, mode), और यह दिखाना कि ये तीनों कैसे अलग-अलग हैं। आप किन्ही भी संख्याओं के लिए मध्यमान, बहुसम्मत मान और बहुलक के मानक विचलन का कलन कर सकते हैं और दिखा सकते हैं कि ये कैसे अलग-अलग हैं। और फिर आप सामान्य वितरण का चित्र दिखा सकते हैं जहाँ ये तीनों एक होते हैं। मेरे खयाल में इतना काफी है। +2 स्तर का छात्र जितना आत्मसात कर सकता है, उस लिहाज़ से यह पर्याप्त है। उदाहरण के तौर पर आप आमदनी/खर्च के वितरण के आँकड़ों का उपयोग कर सकते हैं।

हमारे शिक्षण की मूल समस्या यह है कि स्कूल स्तर पर छात्रों और शिक्षकों पर बहुत बोझ डाला जाता है। शिक्षकों को ढेर सारी किताबें दे दी जाती हैं और कहा जाता है कि यह सूक्ष्म अर्थशास्त्र में पढ़ाओ, वह स्थूल अर्थशास्त्र में, सांख्यिकी में, बीजगणित में। मेरा खयाल है इससे किसी को मदद नहीं मिलती, न शिक्षकों को, न छात्रों को। जो लोग अकादमिक क्षेत्र में बने रहेंगे, उनके लिए मौलिकता और निरन्तर दिलचस्पी के लिहाज़ से महत्व इस बात का है कि *बुनियादी विचारों पर पकड़ हो और उनकी प्रासंगिकता की छानबीन कर सकें*।

भारतीय अर्थशास्त्र को लीजिए। इसमें तमाम किस्म की जानकारी है

जिसके बोझ में आप दब जाते हैं। आप चाहें तो अमुक चीज़ या कोई अन्य चीज़ न लें मगर कुछ बुनियादी जानकारी लें जो आपको लगता है कि महत्वपूर्ण है, और फिर उसके महत्व की व्याख्या की ज़रूरत है। मेरे खयाल में आज यह महत्वपूर्ण है। आजकल बाज़ार, उदारीकरण और उच्च विकास दर की बहुत बातें होती हैं। हमें इसका दूसरा पहलू पता होना चाहिए। आपके राजनैतिक पूर्वाग्रह हो सकते हैं, और यदि आप बौद्धिक रूप से ईमानदार हैं तो बता सकते हैं कि ये मेरे पूर्वाग्रह हैं। यह एक निजी निर्णय है। आप यकीनन कह सकते हैं कि मैं ऐसा सोचता हूँ। मगर अर्थशास्त्र से आपको मदद मिलनी चाहिए कि तर्क कर सकें कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूँ। अन्यथा, कई अन्य लोगों के समान आप यह विश्वास करते रहेंगे कि स्टॉक मार्केट में रोज़ाना होने वाले उतार-चढ़ाव अर्थ व्यवस्था की सेहत दर्शाते हैं या उच्च विकास दर सबके लिए अच्छी है। ऐसे व्यापक रूप से प्रचलित विचारों पर सवाल उठाना और उनकी कड़ी जाँच-पड़ताल करना अर्थशास्त्र का मकसद है। इसी तरह से आप अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा या मीडिया द्वारा उल्लू बनाए जाने से बच सकते हैं (जैसा कि मैंने शुरू में कहा था) और अपनी स्वतंत्र समझ बनाना शुरू कर सकते हैं। यदि छात्र इसे अपने शिक्षक के साथ आसपास की दुनिया के बारे में सीखने की प्रक्रिया मानें तो यह सामाजिक अन्वेषण की एक रोमांचक शाखा साबित हो सकती है।

टिप्पणियाँ

1. तार्किक प्रमाणवाद का इन्तहाई दार्शनिक मत हमें यह मनवाने की कोशिश करता है कि मान्यताओं का यथार्थवादी होना अप्रासंगिक है और दरअसल निष्कर्षों की जाँच करके मामला सुलझाया जा सकता है। अलबत्ता, अर्थशास्त्र जैसे विषय में ऐसी जाँच अस्पष्ट होती है क्योंकि इसमें तुलनाशुदा (controlled) प्रयोग नहीं हो सकते और यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक जैसे निष्कर्ष मान्यताओं के एक ही समूह से उभरते हैं।
2. जानकारी को हार्ड या सॉफ्ट के रूप में वर्गीकृत करना सन्दर्भ से परे नहीं है। जैसे जानलेवा कार दुर्घटनाओं में या युद्ध की स्थिति में लोगों के मरने की सम्भाविता ज़्यादा होती है।
3. ये कुछ विचार हैं जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं बजाय 'आवर्धन प्रभाव' की औपचारिक व्युत्पत्ति के।
4. दरअसल, कीन्स ने इसे सबसे स्पष्टता से प्रस्तुत किया था, और आगे चलकर इसे लेकर मुद्रावादियों (monetarists) और कीन्सवादियों के बीच काफी विवाद चला था।

अमित भादुड़ी

अमित भादुड़ी देश के प्रमुख आर्थिक सिद्धान्तकारों में से हैं। उन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता और मैसाच्युसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी, अमेरिका में पढ़ाई की तथा 1967 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की डिग्री हासिल की। उन्होंने देश-विदेश के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है तथा 70 से भी ज़्यादा शोधपत्र प्रकाशित किए हैं।

वे आर्थिक शोध में अपने अग्रिम योगदान के लिए विख्यात हैं। इसके अलावा उन्होंने आर्थिक मुद्दों पर आम पाठकों के लिए कई पुस्तकें भी लिखी हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं: दीपक नैयर के साथ मिलकर लिखी, *An Intelligent Person's Guide to Liberalization (1996); Development with Dignity (2006)*; तथा *The Face You Were Afraid to See (2009).*

अपने लेखन में अमित भादुड़ी ने लगातार सरकारी नीतियों में रोज़गार की केन्द्रीयता के महत्व की ओर ध्यान खींचने की कोशिश की है। उनके अनुसार विकास ऐसा होना चाहिए जो व्यक्ति की गरिमा को चोट न पहुँचाए। भारत में विकास का वर्तमान मॉडल ऐसा नहीं है। यह मॉडल रोज़गार की कीमत पर जी.डी.पी. में बढ़ोतरी पर ज़ोर देता है।

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो।

शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्री आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं। साथ ही एकलव्य तीन नियमित पत्रिकाएँ – *चकमक*, *संदर्भ* एवं *स्रोत* भी प्रकाशित करता है।

इस किताब की सामग्री एवं सज्जा पर आपके सुझावों का स्वागत है। इससे आगामी किताबों को अधिक आकर्षक, रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में हमें मदद मिलेगी।

सम्पर्क: **एकलव्य,** ई-10, शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462016